गुरुत्तं

भाग-9

(सोलहकारण भावना)

प्रवचनकार
आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

प्रकाशक
निर्ग्रंथ ग्रंथमाला

प. पू. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के नवम आचार्य पद दिवस के अवसर पर प्रकाशित

कृति : गुरुत्तं भाग-9

मंगलाशीष : परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य
श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज

प्रवचनकार : परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य
श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज

संपादन : आर्यिका श्री 105 वर्धस्व नंदनी

प्राप्ति स्थान : ई-16, सैक्टर-51 नोएडा (गौतमबुद्ध नगर) 201301
मो. 9971548899, 9867557668

ISBN :

संस्करण : प्रथम सन् 2019
द्वितीय सन् 2023

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : सदुपयोग

मुद्रक : ईस्टर्न प्रेस
नारायणा, नई दिल्ली-110028
दूरभाष: 011-47705544
ई-मेल: info@easternpress.in

पुरोवाक्

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः, किम्प्राप्यः किन्निमित्तिकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत्॥१/७८॥

मैं कौन हूँ, मुझमें कौन-कौन से गुण हैं, मैं पूर्व किस पर्याय से आया हूँ, मुझे इस पर्याय में क्या प्राप्त करना है और मैं किस हेतु पैदा हुआ हूँ, इस प्रकार विचार यदि प्रतिदिन नहीं किया जावे तो मनुष्य कर्त्तव्यभ्रष्ट हो, कुकार्य में प्रवृत्त हो जाता है।

(आ. वादीभसिंह/क्ष.चू.)

ज्ञान में रत जीव सम्यक् पथ पर गमन करने में समर्थ होता है। कर्त्तव्यों का पालन करते हुये सुकार्यों में प्रवृत्त होता है एवं स्व अस्तित्व व पर्यायों का चिंतन भी उसके ज्ञान का ही सुफल है। ज्ञान की निर्मल मंदाकिनी पाप पंक का प्रक्षालन करती हुई जीवन में संयम के वृक्ष को पल्लवित करने वाली होती है। ज्ञान के अभाव में स्व-पर अवबोध शक्य नहीं है। सम्यक्ज्ञान से चित्त में उठ रहीं विषय कषायों की ऊर्मियाँ शांत होती हैं जिससे पाप कर्मों का संवर व पुण्यास्रव होता है।

पाठकगण ''गुरुत्तं'' जो कि पूज्य गुरुवर श्री के मीठे प्रवचनों का संकलन है उसके आठ भाग प्राप्त कर चुके हैं। हमें प्रसन्नता है कि आप लोगों की स्वाध्याय के प्रति रुचि, भक्ति व समर्पण के कारण गुरुत्तं का यह 9वाँ भाग भी पूर्णता को प्राप्त हुआ। इसके अन्तर्गत पूज्य गुरुदेव द्वारा सोलहकारण भावनाओं पर दिये गये प्रवचनों का संकलन है।

मनुष्य के व्यक्तित्व में 'भाव' का स्थान सर्वोपरि है। भावों से ही स्वर्ग है, भावों से ही नरक है, यहाँ तक कि भावों से ही मोक्ष

है। 'सद्भावों से सद्गति और बुरे भावों से दुर्गति' यह तो जगत्प्रसिद्ध उक्ति है। भावों की पुनः-पुनः प्रवृत्ति ही भावना संज्ञा को प्राप्त है। तीर्थंकर बनने के लिए भावों की निर्मलता मुख्य साधन है। जिस मनुष्य को आत्मकल्याण का आनन्दायीपना इतना मधुर लगा हो कि वह जीवमात्र को इस आनंददायी आत्महित के लिए प्रबल प्रेरक हो, जिससे आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्वकल्याण का सर्वोदयी वात्सल्य जागृत हो सके। इन्हीं पवित्र दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं से तीर्थंकर कर्म प्रकृति का आस्रव-बंध होता है। ये सोलह भावना तीर्थंकर पद की प्राप्ति का कारण होने से सोलहकारण भावना कहलाती हैं।

दर्शन विशुद्धि-सम्यक्दर्शन के शंकादि 25 दोषों का निवारण करके सम्यग्दर्शन निर्मल रखना ''दर्शनविशुद्धि भावना'' है।

तीर्थंकरत्व नामकर्म की कारणभूत सोलहकारण भावनाओं में सर्वप्रथम व सर्वप्रधान भावना दर्शनविशुद्धि है क्योंकि यही आत्मस्वरूप संवेदन के प्रति एकमात्र कारण है। तब किसी ने प्रश्न किया ''केवल उस एक दर्शनविशुद्धता से ही तीर्थंकर नामकर्म का बंध कैसे संभव है, क्योंकि ऐसा मानने से सब सम्यग्दृष्टियों के तीर्थंकर नामकर्म के बंध का प्रसंग आएगा?''

आचार्य भगवन् श्री वीरसेन स्वामी धवलाजी ग्रंथ में उत्तर देते हुए कहते हैं कि शुद्धनय के अभिप्राय से तीन मूढ़ताओं और आठ मलों से रहित होने पर ही दर्शनविशुद्धता नहीं होती किन्तु पूर्वोक्त गुणों से अपने निजस्वरूप को प्राप्त कर स्थित साधुओं की समाधि संध ारणा, साधुओं की वैयावृत्ति का संयोग, अर्हन्त भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावना और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग युक्तता में प्रवर्तने का नाम विशुद्धता है। उस एक दर्शनविशुद्धता

से ही तीर्थंकर कर्म को बाँधते हैं। अर्हंत के द्वारा उपदिष्ट अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श को अर्हन्त भक्ति कहते हैं और यह दर्शनविशुद्धता आदिकों के बिना संभव नहीं है।

विनय सम्पन्नता–आत्मा के गुणों तथा निर्मल आत्म गुणधारी मुनीश्वर आदि का हृदय से सम्मान करना ''विनयसम्पन्नता भावना'' है।

रत्नत्रय तथा रत्नत्रयधारियों का यथोचित उपकार करना, उनका सत्कार करना, सेवा–सुश्रूषा करना आदि शास्त्रानुकूल कर्म में प्रवृत्ति करना विनय है। 'विनयतीति विनयः' इस निरुक्ति के अनुसार विनय शब्द के दो अर्थ होते हैं–प्रथम–''विनयति अपनयति इति विनयः'' अर्थात् जो दूर करता है, उसे विनय कहते हैं, इस प्रकार जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते हैं। द्वितीय है ''विशेषण नयति इति विनयः अर्थात् जो विशेष रूप से प्राप्त कराता है उसे विनय कहते हैं, इस प्रकार जो स्वर्ग–मोक्षादि विशिष्ट अभ्युदयों को प्राप्त कराता है, वह विनय है। विनय वा नम्रता युक्त जीव विनय–संपन्न है और उसके भाव को विनय–संपन्नता कहते हैं।

शील व्रतेष्वनतिचार–शील और व्रतों का निर्दोष पालन करना ''शीलव्रतेष्वनतिचार भावना'' है।

शील के कई अर्थ संभव हैं–जैसे सत्स्वभाव, ब्रह्मचर्य, दिग्व्रतादि सात व्रत आदि। सत्स्वभाव का अर्थ है क्रोधादि के वश में न होना और यही स्वभाव अहिंसादि व्रत रक्षा में प्रधान है, इस प्रकार अहिंसादि व्रतों की रक्षा के कारणों को शील कहा जाता है। इस कारण से क्रोधादि कषायों का त्याग, ब्रह्मचर्य व्रत पालन, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों का पालन, इसे शील कहा जाता है। शुभ कार्यों में प्रवृत्ति

करना व अशुभ कार्यों को छोड़ देना यह व्रत है। जिस प्रकार मलयुक्त बीज बोने से उनके कोई फल नहीं लगता, उसी प्रकार अतिचार सहित व्रतपालन फलदायी नहीं है, अतः निरतिचार पालन की प्रेरणा दी गई। अतिचारों से रहित होकर निर्दोष व्रत-शीलपालन को ही शीलव्रतेष्वनतिचार भावना नाम दिया जाता है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी-ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, इस ज्ञान गुण को बढ़ाने के लिये सदा ज्ञान का अभ्यास करते रहना, ''अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी भावना' है।

अभीक्ष्ण का शाब्दिक अर्थ ही सतत, निरंतर, लगातार या अनवरत होता है। यहाँ ज्ञानाभ्यास को एक-क्षण को भी नहीं छोड़ने का उपदेश इस भावना में दिया गया है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य किसी पदार्थ को नहीं देख सकता, उसी प्रकार ज्ञान-रहित व्यक्ति कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को, सत्-असत् को, हेय-उपादेय को न तो देख सकता है और न ही कोई निर्णय कर सकता है। अतः ज्ञानाभ्यास होना/करना अति आवश्यक है।

संवेग-सांसारिक दुखों से भयभीत होना अथवा धर्म व धर्म के फल में अनुराग होना भी 'संवेग' है।

दुःखों के समुद्र रूप संसार में शारीरिक, मानसिक, इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज आदि अनेक प्रकार के दुःख भरे हुए हैं, इन दुःखों से नित्य डरते रहना संवेग कहलाता है और यही मुक्ति का परंपरा से साधन है। कल्पवृक्ष हो या चिन्तामणि रत्न सभी धर्मात्मा के चरणों की धूलि होते हैं। ऐसे धर्म को त्रैलोक्य में उत्कृष्ट जानना, यही संवेग भावना है।

शक्तितस्त्याग-अपनी शक्ति के अनुसार स्व-पर हित के लिये द्रव्य का दान करना ''शक्तितस्त्याग भावना'' है।

पाँचों इंद्रियों के विषयों को, उनमें लोलुपता को जीतने से त्याग धर्म होता है। तथा उत्तम, मध्यम व जघन्य-ऐसे तीन प्रकार के पात्रों को भक्तियुक्त होकर आहार-औषधि आदि का दान देना भी समस्त त्याग धर्म के अन्तर्गत आता है।

शक्तितस्तप-अपनी शक्ति के अनुसार आत्मशुद्धि के लिये तपश्चरण करना ''शक्तितस्तप भावना'' है।

कर्मों के नाश करने के लिए अथवा इच्छा का निरोध करने के लिए अथवा मन और इन्द्रियों को वश में रखने के लिए जो तपा जाता है, उसे तप कहा जाता है और अपनी शक्ति के अनुसार तप करने को शक्तितस्तप भावना कहा जाता है।

साधु समाधि-मुनि तपस्वियों पर आए हुए उपसर्ग को निवारण करना ''साधुसमाधि भावना'' है। अथवा समाधि से (धर्मध्यान पूर्वक) शरीर का परित्याग करना साधुसमाधि है।

व्रत शीलादि अनेक गुणयुक्त, स्व और पर के आत्मोत्थान का कार्यसिद्ध करने वाले व्रती-संयमी साधुजनों पर किसी कारण से आने वाले विघ्न को दूर कर उनके व्रतशील की रक्षा करना, साधु समाधि भावना है। जिस प्रकार भंडार में लगी अग्नि को गृहस्थ अपनी उपकारक या उपयोगी वस्तुएँ अन्दर रखी जानकर उसे बुझाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्न साधु में विद्यमान रहते हैं, ऐसे साधु की रक्षा करना योग्य ही है।

वैयावृत्य-रोगग्रस्त, वृद्ध, थके हुए, बालक, मुनि, त्यागी-व्रती की सेवा करना ''वैयावृत्य'' भावना है।

व्यपनोद, व्यावृत्ति और वैयावृत्ति एकार्थवाची शब्द हैं जिनका अर्थ होता है-हटाना अर्थात् दु:खों को दूर करना। आहार-औषधि आदि

देकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, विनय-आदर करना, उनका दु:ख दूर करने का प्रयत्न करना वैयावृत्य है। जो आचार्यादि गुरु-शिष्य को श्रुत के अंग पढ़ाते हैं, व्रतादि की शुद्धि का उपदेश देते हैं, वह शिष्य का वैयावृत्य है। इसी प्रकार गुरु की आज्ञा में प्रवर्तते हुए उनकी सेवा करना वह गुरु के प्रति वैयावृत्य है।

अर्हद्भक्ति-चार घातिया कर्म रहित अनंत चतुष्टय संयुक्त जीवन मुक्त अर्हन्त परमेष्ठी होते हैं, उन अर्हत् परमेष्ठी की भक्ति करना ''अर्हद्भक्ति भावना'' है।

आचार्य भक्ति-साधु संघ के अधिनायक आचार्य कहलाते हैं गुरुओं में मुख्य उन आचार्य की भक्ति करना ''आचार्य भक्ति'' भावना है।

बहुश्रुत भक्ति-उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना ''बहुश्रुत भक्ति'' भावना है।

जो अंग-पूर्वादि रूप द्वादशांग जिनवाणी के ज्ञाता हैं, चारों अनुयोगों के पारगामी हैं, जो निरन्तर स्वयं परमागम को पढ़ते हैं तथा अन्य सभी से अधिक ज्ञानी हैं, ऐसे उपाध्याय बहुश्रुत कहलाते हैं।

प्रवचन भक्ति-जिनवाणी के प्रतिपादक शास्त्रों की भक्ति करना ''प्रवचनभक्तिभावना'' है।

प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट वचन। जिनेंद्र भगवान् के मुख से निकला हुआ वचन ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वीतराग जिनेंद्र भगवान् का ज्ञान अनंत है तथा राग-द्वेष के अभाव से सर्वजीवों के लिए हितकारक तथा अज्ञानता के अभाव से सर्व पदार्थ यथार्थ रूप से जानते हैं, उनका उपदेश भी यथार्थ और हितकारक है, इसी कारण वह प्रवचन संज्ञा को प्राप्त है।

आवश्यकापरिहाणी–सामायिक, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग ये छः आवश्यक गुण साधुओं के होते हैं। इस दैनिक कार्यों में लेश मात्र भी कमी न आने देना, यथा समय यथाविधि प्रत्येक को अवश्य करना ''आवश्यकापरिहाणी भावना'' है।

मार्ग प्रभावना–जैन धर्म का प्रभाव समस्त जनता में फैलाने का उद्यम करना ''मार्ग प्रभावना भावना'' है।

कल्याण के मार्ग को ही जिनागम में मार्ग कहा गया है, वह मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग ही है, ऐसे उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की प्रभावना करना, उसके प्रभाव को प्रकट करना ही मार्गप्रभावना है।

प्रवचन-वत्सल–गाय व बछड़े का जैसा परस्पर में स्वच्छ, निष्कपट प्रेम होता है, भव्य जीव धर्मात्मा जन भी वैसा ही निर्मल पवित्र प्रेम जिनधर्म व जिनधर्मीजनों से, जिनधर्म के आयतनों से हृदय से करते हैं, इसी को ''प्रवचन-वात्सल्य भावना'' कहते हैं।

हमारे द्वारा प्रमादवश, अल्पज्ञतावश इस संपादन के कार्य में यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठक नीर-क्षीर विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीर रूपी गुणों का अवग्रहण करें और सारहीन नीर का परित्याग। संभव है आपका आनंद, संतोष, हितमार्ग सप्राप्ति एवं कल्याण हमारे परिणामों में विशुद्धि एवं आनंद का निमित्त बन सके।

गुरुदेव का चिंतन जो शब्दों की पोषाक पहन भव्यों के कर्णगोचर हुआ उसी को यहाँ सभी के कल्याणार्थ लिपिबद्ध किया गया है। इनसे वंचित रहने वाले भव्यजनों तक गुरु की यह कल्याणकारी वाणी पहुँच सके, इस हेतु इन प्रवचनों का संकलन गुरुत्तं-9 के रूप में किया गया है।

इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में संघस्थ त्यागीव्रती, मुद्रण-प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही बंधुजनों को पूज्य गुरुवर श्री का मंगलमय शुभाशीष।

गुरुवर श्री का संयमपथ सदैव आलोकित रहे। शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरभित रहे। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, अक्षरशिल्पी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु...।।

।।''सर्वेषां मंगलं भवतु''।।

श्री शुभमिति पौष कृष्ण त्रयोदशी — ॐ ह्रीं नमः
श्री वीर निर्वाण संवत् 2545 — आर्यिका वर्धस्व नंदनी
दिल्ली

अनुक्रमणिका

1. सोलहकारण भावना..... 1

2. दर्शनविशुद्धि भावना 12

3. विनयसम्पन्नता भावना 26

4. शीलव्रतेष्वनतीचार भावना..... 36

5. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना..... 48

6. संवेग भावना 58

7. शक्तितस्त्याग भावना 71

8. शक्तितस्तप भावना..... 83

9. साधु समाधि भावना 98

10. वैयावृत्ति भावना..... 108

11. अर्हत् भक्ति भावना 117

12. आचार्य भक्ति भावना..... 130

13. बहुश्रुत भक्ति भावना..... 139

14. प्रवचन भक्ति भावना..... 149

15. आवश्यका-परिहाणि भावना 158

16. मार्ग प्रभावना भावना..... 167

17. प्रवचन-वत्सलत्व भावना..... 178

18. उपसंहार..... 191

भावना का महात्म्य

ण करेदि भावणा भाविदो
खु पीडं वदाण सव्वेसिं।
साहू पासुत्तो समुहदो
व किमिदाणि वेदंतो॥

–भ. आ. 1206

अर्थः–भावनाओं से भावित साधु गहरी नींद में सोता हुआ भी अथवा मूर्च्छित हुआ भी सब व्रतों में दोष नहीं लगाता। तब जागते हुए की बात ही क्या।

सोलहकारण भावना

महानुभाव ! संसार में दो प्रकार के जीव होते हैं। एक वे जो शासन करते हैं दूसरे वे जो शासित होते हैं। कर्मभूमि में कभी ऐसा नहीं हुआ कि सभी ही शासक हो जायें और कभी ऐसा भी नहीं हुआ कि सभी शासित हो जायें। शासक के बिना शासित और शासित के बिना शासक नहीं हो सकते। व्यवहार में आप देखते हैं कि ट्रेन जब रेलवे ट्रेक पर चलती है तो उस ट्रेन के सभी डिब्बे एक जैसे नहीं होते, अर्थात् सभी डिब्बे ही डिब्बे हो जायें ऐसा भी नहीं हो सकता और सभी डिब्बों में इंजन फिट हो जाये तो उसमें बैठेगा कौन ? वह ट्रेन व्यर्थ हो जायेगी। एक इंजन होना जरूरी है तो एक डिब्बा होना भी जरूरी है। एक समुद्र होता है और नदी अनेक होती हैं वे नदियाँ समुद्र में आकर आश्रय प्राप्त करती हैं। सभी नदी-नदी बन जायें ऐसा भी संभव नहीं है, सभी समुद्र हो जायें ऐसा भी संभव नहीं है। एक चन्द्रमा होता है तारे अनेक होते हैं सभी चन्द्रमा हो जायें ये भी संभव नहीं है।

इसी प्रकार एक प्रमुख पुरुष होता है शेष गौण होते हैं। नय विवक्षा से जब आगम का कथन करते हैं तब जिस नय से कथन किया जा रहा है उस नय की विवक्षा मुख्य होती है शेष विवक्षायें गौण हो जाती हैं। कोई भी विवक्षा मुख्य हो सकती है किन्तु एक समय में एक ही विवक्षा मुख्य होगी अनेक नहीं हो सकती। अनेक व्यक्तियों में शासक होने की योग्यता हो सकती है किन्तु एक समय में शासक एक ही होगा। एक हवाई जहाज में यदि सारे पायलेट ही होंगे तो सभी मिलकर जहाज को चला नहीं सकते, एक समय में एक ही चला सकता है। और ऐसा भी नहीं हो सकता कि सब बैठकर चलें कोई संचालन न करे। इसी प्रकार मानवता का संचालन करने के लिये मानवता का सजग प्रहरी, मानवता का मसीहा, एक अग्रदूत, नायक, धर्मक्रांति करने वाला नेता प्रत्येक काल में अवश्य

होता है, कर्म भूमि में सदा होता चला जायेगा। कभी वह नेता उत्कृष्ट होता है कभी वह मध्यम भी होता है। जैसे घर का संचालन करने वाला मुखिया एक होता है चाहे घर बड़ा हो या छोटा, समाज का संचालन करने वाला मुखिया एक होता है चाहे वह समाज छोटी हो या बड़ी। एक प्रान्त का संचालन करने वाला राज्यपाल भी एक ही होता है चाहे वह प्रान्त छोटा हो या बड़ा, एक देश का संचालन करने वाला एक राष्ट्रपति होता है चाहे वह देश/राष्ट्र छोटा हो या बड़ा हो किन्तु होता एक ही है। किसी भी राष्ट्र में दो राष्ट्रपति नहीं होते। होते तो कई राष्ट्रपति हैं किन्तु क्रमशः-क्रमशः एक के बाद एक होते हैं एक साथ नहीं होते।

ऐसे ही जब-जब मानवता कराहने लगती है, जब-जब मानवता में दानवता प्रवेश कर जाती है, जब-जब धर्म की ध्वजा झुकने लगती है, जब-जब प्राणी अपने ही कृत्यों से पीड़ित हो जाता है, जब-जब प्राणी राह भूल जाता है, जब-जब प्राणी के अंदर सुख और शांति प्राप्त करने की तीव्र भावना पैदा होती है, जब-जब व्यक्ति किसी मार्गदर्शक की राह देखता है, जब-जब व्यक्ति को लगता है अति हो गयी अब उसका अन्त होना चाहिये तब-तब कोई न कोई युग प्रमुख व्यक्ति अवतार लेते हैं। अवतार का आशय यहाँ यह नहीं है कि बार-बार कोई एक ही पुरुष जन्म लेता है, यहाँ पर अवतार का आशय अवतरण अर्थात् जन्म लेता है उत्पन्न होता है। जब-जब अम. ावस्या की रात घोर अन्धकार से युक्त हो जाती है तब हर प्रातःकाल सुप्रभात होता है सूर्य का उदय होता है। अधर्म के बढ़ने पर, धर्म की प्रभावना करने कोई न कोई आता है। अनावृष्टि यदि हो रही हो तो फिर कभी न कभी मेघ बरसने तो आते ही हैं। जब दुर्दिन हो, कोहरा छा रहा हो तो कभी न कभी सूर्य का उदय तो होता ही है।

महानुभाव ! प्रायःकर जब-जब पृथ्वी पर अधर्म-पाप बढ़ते हैं, जब-जब व्यक्ति भटकने लगता है, बहुत संख्या में व्यक्ति भटक

जाते हैं तब उन्हें सही रास्ता दिखाने के लिये कोई न कोई पुण्य पुरुष, युगपुरुष, महापुरुष जिसे तीर्थंकर के नाम से भी कह सकते हैं वह जन्म लेता है।

वह तीर्थंकर बनता कैसे है ? हर व्यक्ति सम्राट क्यों नहीं बन जाता, भारत में लगभग सवा अरब के आस-पास संख्या में व्यक्ति हैं वे सभी राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री क्यों नहीं बन जाते? क्योंकि हर व्यक्ति बन नहीं सकता, प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता नहीं होती है। जिस व्यक्ति ने पूर्व में उस पद को प्राप्त करने के लिये भावना भायी हो, प्रयास पुरुषार्थ किया हो, जो उतने भार को ढोने में समर्थ हो तब उसके कंधे पर वह भार रखा जाता है। गजरथ में कभी खरगोशों को नहीं जोता जाता और जिस रथ में अश्व जोते जाते हैं उसके स्थान पर खच्चर को भी नहीं लगाया जाता, जिस रथ को बैल खींच रहे हों उस रथ में कभी बकरों को नहीं लगाया जाता। जिसके लायक जितना वजन होता है उसमें उसी प्रकार के पात्र को निर्वहन करने की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। जो अपनी कक्षा का मॉनीटर बनने के लायक भी नहीं है ऐसे व्यक्ति को देश का प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति नहीं बना सकते।

जो धर्मपुरुष होते हैं, तीर्थंकर व धर्मप्रवर्तक होते हैं वे निःसंदेह महान् शक्तियों से संयुक्त होते हैं। वे महान् शक्तियाँ कैसे प्राप्त होती हैं ? उन महान शक्तियों की पहले उपासना की जाती है। व्यक्ति पहले साधना करता है। जीवन में साध्य की उपलब्धि कभी बिना साधना के नहीं होती। जीवन में साधना करने से पहले उपासना की जाती है और उपासना के पहले भी भावना भायी जाती है। भावना में जब तीव्रता आ जाती है तब भावना उपासना का रूप ले लेती है, और जब उपासना में तीव्रता आ जाती है तो उपासना से साधना अपने आप शुरू हो जाती है और साधना में जब तीव्रता आ जाती है तो साध्य स्वतः अपने आप उपस्थित हो जाता है। भावना की

तीव्रता के बिना उपासना ढोंग है। भावना में तीव्रता नहीं है तो वह उपासना दिखावा है, प्रदर्शन है, छल-कपट है, स्वयं के साथ की गयी मायाचारी है। उपासना में यदि तीव्रता नहीं है तो व्यक्ति साधक कभी नहीं बन सकता, उपासना की तीव्रता ही उसे साधक बनाती है।

महानुभाव ! पानी की खोज वही करता है जिसे तीव्र प्यास हो, जिसे प्यास नहीं है वह पानी की खोज नहीं करता, जिसे भूख की बाधा है ऐसा क्षुधातुर व्यक्ति ही भोजन की तलाश करता है किन्तु जिस व्यक्ति को कोई प्रतिकूलता ही नहीं है तो वह उसे दूर करने का उपाय ही क्यों सोचेगा। जो युगपुरुष, महापुरुष होते हैं तीर्थंकर जैसे पुरुष होते हैं, तीर्थंकर शब्द का अर्थ ही यह होता है जो तीर्थ को करने वाला है। तीर्थ शब्द का अर्थ होता है 'घाट' जहाँ से नाविक अपनी नाव को संचालित करता है और दूसरे स्थान पर ले जाकर छोड़ देता है, तीर्थ/घाट है। जो व्यक्ति नाव चलाना नहीं जानते हैं या तैरना नहीं जानते वह उसकी नाव में बैठ जाते हैं और पार हो जाते हैं। तीर्थ का आशय समझें कोई जंक्शन, स्टेशन या एयरपोर्ट जो एक स्थान से दूसरे निश्चित स्थान तक छोड़ता है। ऐसे ही तीर्थ एक घाट है उस तीर्थ का संचालन करने वाले, उस घाट पर नाव रखने वाले तीर्थंकर हैं, जिस पर कोई भी भव्य प्राणी बैठ सकता है। जिसके पास उस नाव में (बस, ट्रेन, हवाईजहाज) बैठने का चार्ज (टिकट) है वही उसमें बैठ सकता है जिसके पास नहीं है वह नहीं बैठ सकता। दूसरी बात यह है कि चार्ज के साथ उनकी बैठने की भावना भी हो जब बैठने की भावना नहीं है तो चार्ज क्या करेगा।

किसी व्यक्ति का इतना पुण्य तो है कि उसे तीर्थंकर का सा. न्निध्य प्राप्त हो जाये किन्तु वह प्राप्त नहीं करना चाहता, वह उस पुण्य को भोगों में खर्च करना चाहता है। इस पुण्य के माध्यम से अपनी आत्मा के कल्याण के लिए साधन सामग्री प्राप्त की जा सकती है पर मैं प्राप्त नहीं करूँगा, मैं तो उसका दुरुपयोग करुँगा।

जिन पैसों के माध्यम से क्षुधा को शांत करने के लिये भोजन सामग्री खरीदी जा सकती है उसी पैसे के माध्यम से जहर भी तो खरीदा जा सकता है। तो जो व्यक्ति अपने पुण्य का दुरुपयोग करते हैं उन्हें ऐसा ही समझना चाहिये कि वे व्यक्ति अमृत तुल्य भोजन को छोड़ जहर को ग्रहण कर रहे हैं। ऐसे ही जो व्यक्ति संसार में रमण करना चाहता है, शरीर भोगों में रमण करता है उसे समझना चाहिये कि उसके पास इतना पुण्य है कि वह मनुष्य बन गया, संज्ञी पंचेन्द्रिय बन गया, उत्तम जाति कुल सब कुछ मिल गया किन्तु कल्याण नहीं करना चाहता, तो ऐसे व्यक्ति का तीर्थंकर भी कुछ नहीं कर सकते।

जिस व्यक्ति ने पात्रता प्राप्त की है, नाविक ने परीक्षा दी है नाव को हर स्थिति में खेना (चाहे तूफान हो या पलटी हो) व नदी में तैरना सीखा है, उसने खूब साधना की, भावना भायी कि मैं नाव चलाना सीख जाऊँ तब जाकर कहीं वह निष्णात नाविक बन पाया है। हर किसी व्यक्ति को संचालक नहीं बनाया जा सकता है उसके पास उस योग्य लाइसेंस होना चाहिये। तीर्थंकरों के पास संसारी प्र. ाणियों का कल्याण करने का लाइसेंस होता है।

तीर्थंकर प्रभु ही कल्याण करते हैं, तीर्थंकर प्रकृति ही लाइसेंस है। इस लाइसेंस को प्राप्त करने के लिये उन्होंने पूर्व भव में भावना भायी थी। वे थी सोलहकारण भावना।

सोलह कारण भाय तीर्थंकर जे भये।
हरषे इन्द्र अपार मेरु पे ले गये॥

अथवा

दरश विशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय।
परम गुरु होय जय जय नाथ परम गुरु होय॥

जो दर्शनविशुद्धि आदि 16 भावना नहीं भाता है उसे तीर्थंकर पद की प्राप्ति नहीं होती। यकायक किसी गाँव के व्यक्ति को पायलेट

बनने का मौका नहीं मिल जाता, जिसे साइकिल चलाना भी नहीं आता उसे ट्रेन चलाने का लाइसेंस दे दिया जाये तो स्वयं का भी पतन और दूसरों का भी पतन।

संसार में ऐसा भी कई बार हुआ कि कई व्यक्ति आये और स्वयं को तीर्थंकर कहने लगे। धर्म का प्रवर्तन मैं करूँगा, वे स्वयं भी पतित हो गये और जिन्होंने उनका सहारा लिया वे भी पतित हो गये। भगवान् महावीरस्वामी के काल में मस्करी, कात्यायन, सुगत, अजित कम्बल केसरी, कापालिक ये पाँचों ही स्वयं को तीर्थंकर से कम नहीं आंकते थे।

अनाड़ी व्यक्ति की नाव में बैठने से नाव डूब गयी, जो बैठे थे वे भी डूब गये और नाव चलाने वाला भी डूब गया तो तीर्थंकर बनने के लिये सोलहकारण भावनायें हैं। क्योंकि आप सभी जानते हैं बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, कारण चाहिये। कारण दो प्रकार के होते हैं एक उपादान कारण दूसरा निमित्त कारण। उपादान वह कहलाता है जिसमें कार्य हो रहा है और निमित्त वह कहलाता है जिसके माध्यम से कार्य हो रहा है। गर्म दूध को दही बनाना है तो गर्म दूध में दही बनने की जो क्षमता है इसे कहेंगे उसका उपादान कारण किन्तु दूध में थोड़ा जामन डाला जा रहा है तो जब वह जामन के माध्यम से दही बन जायेगा वह है निमित्त कारण। तीर्थंकर बनने वाला जो महापुरुष है वह भव्य जीव होना चाहिये अभव्य कभी तीर्थंकर नहीं बन सकता। निकट भव्य/आसन्न भव्य होना चाहिये। जिसने सुचिरकाल से दर्शनविशुद्धि आदि भावना भाने के साथ-साथ अर्हन्तादि की उपासना भी की है, समाधि की साधना भी की है वह तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेता है।

महानुभाव ! वह तीर्थंकर प्रकृति का बंधक नियम से अपनी आत्मा का कल्याण करता ही है दूसरों के कल्याण करने में भी निमित्त बनता है। तीर्थंकर प्रकृति के सत्ता में रहते हुये उस महापुरुष

के गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक ये चार-चार कल्याणक हो जाते हैं। ज्ञान कल्याणक होने के उपरांत उसके जीवन में तीर्थंकर प्रकृति का उदय आता है और जब तीर्थंकर प्रकृति उदय में रहती है तब उस समवशरण के माध्यम से भव्य जीवों को कल्याण का उपदेश प्राप्त होता है। जब तीर्थंकर प्रकृति भी नष्ट हो जाती है तब मोक्ष कल्याणक होता है।

पाँच में से एक भी कल्याणक तीर्थंकर प्रकृति के उदय से नहीं होते, पाँचों के पाँचों कल्याणक में 4 तो उस प्रकृति के सत्ता में रहने से होते हैं और एक उस प्रकृति के नष्ट होने पर होता है। आप कहेंगे महाराज श्री ज्ञानकल्याणक तो मान लो कि तीर्थंकर प्रकृति के उदय से होता है। किन्तु इसमें भी सभी एक मत नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान होते ही समवशरण रचना से पूर्व भी ज्ञानकल्याणक की पूजा संभव है। समवशरण आदि की विभूति तीर्थंकर प्रकृति का फल है। आत्मिक फल यह है कि वह स्वयं अपने आप में स्वयंभू हैं उन्हें दूसरों के अनुशासन में रहने की आवश्यकता नहीं है। पहले उन्होंने दूसरों को गुरु बनाया था, पूर्व में दूसरों से बोध प्राप्त किया था किन्तु इस भव में बोध प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

महानुभाव ! कारण जैसे होते हैं कार्य वैसा होता है। तीर्थंकर प्रकृति की जो भावना आत्मकल्याण की होती है उन भावनाओं के माध्यम से आत्मा में वैसी ही शक्ति प्राप्त हो जाती है। थोड़े से जामन से जैसे बहुत सारा दूध जम गया, ऐसे ही थोड़ी सी भावनाओं के माध्यम से उस तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है। भावना भाने में भले ही अन्तर्मुहूर्त लगाया हो किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का काल कम से कम वर्ष पृथक्त्व तो होता ही है और अधिक से अधिकतम आठ वर्ष कुछ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि काल तक उसका फल मिल सकता है। आप लोग घड़ियों में चाबी भरते हैं चाबी भरने में टाईम लगता है 1 मिनट या 30 सैकिण्ड किन्तु वह घड़ी चलती है 24 घंटे

तक। ऐसे ही एक अन्तर्मुहूर्त में किये गये अच्छे परिणामों का फल हो सकता है कि तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो। जब स्व के साथ-साथ पर कल्याण की भावना भी प्रबल होती है तब वह तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कारणभूत बन जाती है।

वर्णी जी के जीवन की घटना है, वे नैनागिरि तीर्थ पर वंदना करने जा रहे थे। उन दिनों पक्की सड़क नहीं थी, धूल भरे रास्ते में ताँगे से जाना पड़ता था। एक ताँगा धीरे-धीरे जा रहा था, वर्णी जी ने सोचा गन्तव्य तक पहुँचने में तो देर हो जायेगी, उनके पास चार पेड़े थे तो वर्णी जी ने चार में से दो पेड़े निकालकर ताँगे वाले को खाने के लिये दे दिये। ताँगे वाला कृतज्ञता से भर गया। अभी थोड़े ही दूर चले थे कि पैदल जाती हुई चार सवारियाँ मिल गईं, वर्णी जी ने बड़े दया भाव से कहा कि भईया, इन्हें भी बिठा लो। चार सवारियाँ और बैठ गई, ताँगा अपनी चाल से धीरे-धीरे चल रहा था। इन चारों ने हड़बड़ी मचाई ताँगे वाले से बार-बार कहना शुरू कर दिया कि जरा जल्दी चलाओ। वे लोग अधिकार सा जमाने लगे, मन में कोई दया का भाव ही नहीं।

अचानक तेजी से हवा आई और धूल उड़ने लगी, वर्णी जी को थोड़ी परेशानी महसूस हुई, तो ताँगे वाले ने ताँगा थोड़ा तेज-रफ्तार से चलाना शुरू कर दिया ताकि वर्णी जी को धूल कम लगे। उन चार व्यक्तियों में से एक व्यक्ति गुस्से में ताँगे वाले से बोल पड़ा कि तुमने इस (वर्णी जी) आदमी के लिये तो ताँगा तेज चला दिया और इतनी देर से हम कह रहे थे तो हमारी बात भी नहीं सुनी। पैसे तो हम भी देंगे।

इतना सुन ताँगे वाले की आँखों में आँसू आ गये और हाथ जोड़कर बोला-''आप लोग नाराज न हों। पैसा ही सब कुछ नहीं है पैसे तो हमें सबसे मिलते हैं। पर इन्होंने (वर्णी जी) जो दो पेड़े प्यार से दिये वह कोई नहीं देता।''

महानुभाव ! बात जरा सी है पर महत्त्वपूर्ण है यही बात जीवन को ऊँचा उठाती है, जीवन को सार्थकता देती है जीवन की सार्थकता तो स्व-पर कल्याण की भावना भाने में ही है। अपना और प्राणी मात्र का कल्याण चाहने वाला ही तीर्थंकर पद को पाता है। तो आज जाना कि तीर्थंकर प्रकृति का क्या महत्त्व है, युगपुरुष कैसे बनते हैं। आगे उन बंध रूप प्रकृतियों के संबंध में चर्चा करेंगे। आज बस इतना ही।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

राजवार्तिक में आचार्य अकलंक देव स्वामी जी ने कहा-

वीर्यान्तरायक्षयोपशम चारित्रमोहोपशम क्षयोपशमाङ्गोपाङ्ग नामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावना।

वीर्यान्तराय क्षयोपशम, चारित्रमोहोपशम और अंगोपांग नाम कर्मोदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो भायी जाती है, जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना हैं।

षट्खण्डागम जी में भी कहा है-8/3 सू. 41/79

दंसण विसुज्झदाये विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लवपडिज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधातवे, साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए। पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि। सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति॥४१॥

दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतों में निरतिचारता, छह आवश्यकों में अपरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसम्पन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओं को प्रासुक परित्यागता, साधुओं से समाधि संधारणा, साधुओं की वैय्यावृत्ययोगयुक्तता, अरिहन्त-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, प्रवचन-वत्सलता, प्रवचन-प्रभावना और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म को बाँधते हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आचार्य भगवन् नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है-

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते॥९३॥

प्रथमोपशम सम्यक्त्व में शेष तीन द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्व में अविरत से अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में करते हैं।

आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी ने भावपाहुड़ ग्रंथ में लिखा है-

विसय विरत्तो समणो छद्दसवर कारणाइं भाऊण।
तित्थयरणामकम्मं बंधई अइरेण कालेण॥७७॥

विषयों से विरक्त रहने वाले जो सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन करते हैं, वे अल्प ही समय में उस तीर्थंकर नाम की प्रकृति का बंध करते हैं, जिससे पंचकल्याणक रूप लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं, अनन्तकाल तक अनंत सुख का अनुभव करते हैं, और अनायास ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

आचार्य उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा-

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग संवेगौशक्तितस्त्याग तपसी साधु समाधि वैंयावृत्यकरण-मर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचनभक्तिरावश्यकपारिहाणि मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य॥२४॥

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ज्ञान में सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप, साधु-समाधि, वैय्यावृत्ति, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचन-वात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्म के आश्रव हैं।

१. दर्शनविशुद्धि भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के निमित्तभूत कारण सोलह प्रकार के बताये हैं। तीर्थंकर प्रकृति का बंध किसी विशिष्ट पुरुष को ही होता है। हर व्यक्ति तीर्थंकर प्रकृति की योग्यता, पात्रता नहीं रखता। तीर्थंकर प्रकृति का बंध श्रमण भी कर सकता है और श्रावक भी कर सकता है किन्तु विशेषता यह है कि उसके लिये दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावना चाहिये।

दर्शनविशुद्धि का अर्थ क्या होता है इस विषय को थोड़ा समझ लें तब तो उस संबंध में भावना भायी जा सकती है। जब तक दर्शनविशुद्धि का अर्थ ही नहीं समझ पायेंगे तो उसकी भावना कैसे भायेंगे। एक छोटा बालक जब मिठाई के बारे में जान लेता है तो मिठाई प्राप्त करने की भावना भाता है, एक विद्यार्थी पास होने पर एक अच्छी जॉब मिल सकती है इसलिये अच्छे नम्बरों से पास होना चाहता है, एक उद्योगपति अपनी वस्तु को पूरे भारत में, पूरे देश में फैलाना चाहता है जिससे पूरे बाजार पर उसकी एकाधिकारिता हो जाये तो जो जिसका गुण जानता है वह उसको प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्रयास करने से पहले भावना भायी जाती है। पहले भावना होती है फिर प्रयास होता है, फिर प्रयास करने में प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है जिसे कहते हैं साधना, सहन करना। भावना के बिना प्रयास नहीं होता और प्रयास में साधना अवश्य ही होती है कभी कम और कभी ज्यादा। जब भावना तीव्र होती है तब प्रयास में, परिश्रम में, उद्यम में तीव्रता आ जाती है फिर साधना स्वतः ही होती है फिर साधना की प्रतिकूलता, साधना की परेशानियाँ, साधना में प्राप्त होने वाली विघ्न बाधायें उसे रोक नहीं पाती, वह साधक अपनी मंजिल तक पहुँच ही जाता है।

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति की क्या विशेषता है ? विशेषता यह है कि जिस व्यक्ति ने इस तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया

वह व्यक्ति उस ही भव में नियम से मोक्ष जाता है जिस भव में यह प्रकृति उदय में आती है। जिस भव में उदय आयेगी उस भव में मोक्ष होना ही होना है उसे संसार का कोई भी व्यक्ति, कोई भी वस्तु या शक्ति मोक्ष जाने से रोक नहीं सकती। तीर्थंकर महापुरुष की विशेषता ये होती है कि वे अपनी आत्मा का कल्याण तो नियम से करते ही करते हैं किन्तु दूसरों के कल्याण करने में भी वे प्रमुख निमित्त होते हैं। यदि तीर्थंकर प्रभु न हों तो सामान्य केवली भी न हो सकेंगे। तीर्थंकर प्रभु न हों तो आचार्य उपाध्याय साधु की परम्परा भी लुप्त हो जायेगी, तीर्थंकर प्रभु न हों तो उपासक धर्म भी लुप्त हो जायेगा वह वृद्धि को प्राप्त न होगा।

तीर्थंकर प्रभु तो ऐसे समझिये जैसे सूर्योदय। सूर्योदय होने पर ही लोक में पदार्थ दृश्यमान होते हैं। दीप्तिमान् पदार्थ हों चाहे चम. कती हुयी धातु, अंधकार में दिखाई नहीं पड़ती किन्तु ज्यों ही सूर्य की सीधी किरणें पड़ती हैं काँच में भी हीरे का भ्रम उत्पन्न हो जाता है वे पदार्थ भी चमकने लगते हैं और सूर्य अस्त हो जाता है तो वे पदार्थ फिर चमक नहीं पाते। तो तीर्थंकर पुरुष रूपी सूर्य के सद्भाव में अन्य पदार्थ दीप्तिमान् होते हैं अर्थात् केवली आदि भी दीप्तिमान् होते हैं। तीर्थंकर के सद्भाव में आचार्य उपाध्याय साधु भी निमित्त बन जाते हैं धर्म के मार्ग पर दूसरों को बढ़ाने में। तीर्थंकर के सद्भाव में एक श्रावक भी किसी के लिये निमित्त बन सकता है तीर्थंकर की वाणी उसे सुनाकर के। तीर्थंकर की वाणी शब्दों के द्व ारा जब शास्त्रों में निबद्ध होती है तब वह वाणी भव्य प्राणियों का कल्याण करने में प्रधान कारण बन जाती है। तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध व्यक्ति तब करता है जब उसके मन में स्वकीय कल्याण की भावना के साथ-साथ पर जीवों के, अन्य भव्यजीवों के कल्याण की भावना तीव्र रूप ले ले।

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में निमित्त सोलहकारण भावना हैं। जिसमें दर्शनविशुद्धि मुख्य है अन्य 15 भावना गौण रूप से रहती हैं। जिस समय स्याद्वाद अपेक्षा से कथन किया जाता है तो जिस नयापेक्षा से कथन किया जा रहा है वह अपेक्षा मुख्य होती है शेष अपेक्षायें गौण हो जाती हैं। एक साथ सभी को मुख्य नहीं किया जा सकता। तीर्थंकर प्रकृति में यूँ तो 16 भावनाएँ निमित्त हैं सभी का अपना-अपना महत्त्व है किन्तु फिर भी यह बात सत्य है कि दर्शन विशुद्धि के बिना 15 भावनायें तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं करा सकती।

एक बार एक राजा किसी कार्य वश विदेश गया। वहाँ का कार्य पूर्ण कर जब वह अपने देश वापस लौटने लगा तो उसके मन में विचार आया कि मैं विदेश आया हूँ तो यहाँ से अपनी रानियों के लिये कुछ सामान ले जाना चाहिये। राजा ने अपने मंत्री से पूछा क्या ले जाना चाहिये, मंत्री ने कहा कि एक-एक पत्र सभी रानियों को लिखकर पूछ लें कि उन्हें क्या-क्या चाहिये। उसने ऐसा ही किया और सभी रानियों ने पत्र पढ़कर अपनी-अपनी पसन्द पत्र में लिख दी। राजा ने सबके पत्र पढ़े। सब रानियों ने साड़ी, जेवर आदि लाने को कहा था। लेकिन छोटी रानी ने अपने पत्र में लिखा था कि मैं आपको चाहती हूँ। आप को गये हुए बहुत समय हो गया इसलिये मैं आपको देखना चाहती हूँ। ऐसा पत्र का आशय जानकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सबकी पसन्द की वस्तुयें ली और छोटी रानी के लिये कुछ विशेष लिया। वापस जाकर सभी रानियों के लिए उनकी पसन्द की वस्तुए नौकरों से भिजवा दी और छोटी रानी के पास राजा स्वयं गये और रानी से पूछा कि तुमने क्या लिखा था? उसने कहा हे स्वामिन् ! मुझे आपकी चाह थी। आप हैं तो सब कुछ है और आप नहीं तो वस्तुओं की कोई कीमत नहीं।

उसी प्रकार महानुभाव ! अगर सोलहकारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि भावना नहीं तो बाकी की पन्द्रह भावनाओं का भी वह

महत्त्व नहीं इसलिये सबसे पहले दर्शनविशुद्धि भावना का चिन्तवन मनन कहा है। जैसे अहिंसा के बिना अन्य चार व्रत धर्म की पूर्णता को प्रदान नहीं कर सकते, उत्तमक्षमा धर्म के अभाव में शेष नौ ध र्म लक्षणवत् बचे हैं उनकी पूर्णता नहीं हो सकती इसी तरह से दर्शनविशुद्धि भावना के बिना अन्य भावनायें नहीं हो सकतीं।

जो दर्शनविशुद्धि भावना अन्य पन्द्रह भावनाओं का नेतृत्व करती है, जो भावना नियम से तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य कारण बन जाती है, जो आत्मा के कल्याण का साक्षात् हेतु है उसके बारे में जानना हमें आवश्यक है। क्या है दर्शन ? क्या है इसकी भावना? ये तीन शब्द हमें जानना बहुत आवश्यक है। दर्शन शब्द का प्रयोग लोक व्यवहार में बहुत अधिक आता है। भगवान् के दर्शन करने जा रहे हैं, गुरु महाराज के दर्शन करने जा रहे हैं, हम तीर्थक्षेत्र के दर्शन करने जा रहे हैं यह दर्शन शब्द बहुत सुनने में आता है। दर्शन शब्द का अर्थ हिन्दी भाषा में यद्यपि 'देखना' होता है किन्तु फिर भी देखने में और दर्शन में बहुत अन्तर है। देखना सामान्य होता है और दर्शन शब्द पूज्य पुरुषों के लिये प्रयोग किया जाता है। जिसमें श्रद्धा का भाव निहित हो। यदि आपका कोई मित्रादि अस्पताल में भर्ती हो और आप उसे देखने जा रहे हों तब आप ये नहीं कहते कि हम अपने मित्र के दर्शन करने जा रहे हैं वह अस्वस्थ है, तब कहते हैं उसे देखने जा रहे हैं। और जब मंदिर जाते हैं तब ये नहीं कहते कि भगवान् को देखने जा रहे हैं तब कहते हैं भगवान् के दर्शन करने जा रहे हैं।

'देखना' एक लौकिक शब्द है जिसका अर्थ होता है मात्र बाह्य आकृति को देखना और दर्शन शब्द का अर्थ होता है अन्तरंग में विद्यमान गुण, लक्षण, धर्म, विशेषताओं को देख लेना। दर्शन अन्तरंग की शुद्धि के लिये होता है और देखना बाहर के सुख-दुख आदि विकारी भावों से प्रभावित होता है। देखने में संसार के सभी पदार्थ

चाहे वे अच्छे हैं या बुरे हैं उन्हें कोई व्यक्ति रागपूर्वक देखता है कोई द्वेषपूर्वक। यह देखना शब्द ही अपने आप में ध्वनित कर रहा है कि केवल और केवल उस वस्तु के बाह्य रूप को देखा जा रहा है। अन्तरंग के रूप को देखने के लिये देखा नहीं जाता है अपितु उसकी व्यवहारिकता की गूँज स्वतः ही दूर-दूर तक फैल जाती है जैसे यदि दीपक जल रहा है तो उसे देखने के लिये पास में नहीं जाना पड़ता उसका प्रकाश तो बहुत दूर तक फैल जाता है। इसीलिये धर्म के क्षेत्र में देखना शब्द नहीं है दर्शन शब्द है। दर्शन किया जाता है अन्तरंग के नेत्रों से, श्रद्धा की आँखों से और देखना होता है बाहर के चर्म चक्षुओं से।

चर्मचक्षु बाहर के चर्म को देखते हैं, पौद्गलिक वस्तु को देखते हैं उन चर्म चक्षुओं से अन्तरंग की श्रद्धा, आत्मा के गुण, चेतना का स्वभाव देखने में व पकड़ने में नहीं आ सकता। दर्शन के माध्यम से मूर्ति में भी भगवान् दिखायी देते हैं चाहे मूर्तिपाषाण की है या धातु की है चाहे रत्न-उपरत्न की है इतना ही नहीं चाहे काष्ठ की ही मूर्ति क्यों न हो तब भी उसमें उस मूर्तमान् के साक्षात् दर्शन होते हैं। और देखने वाला पाषाण, धातु को ही देख पाता है वह भगवान् की भगवत्ता को नहीं देख पाता। दर्शन वाला तो अपने इष्ट आराध्य परमप्रभु परमात्मा को देख लेता है, इतना ही नहीं भक्तों का तो ये कहना है कि वह अपने प्रभु से कहकर सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। उनके अपने प्रभु में प्राण बसते हैं जैसे किसी भूखे को भोजन मिल जाये तो उसे लगता है उसकी चेतना लौट कर आ गयी है ऐसे ही जिसने बहुत दिनों से भगवान्-गुरु के दर्शन नहीं किये तो दर्शन करते ही ऐसा लगता है चेतना लौट कर आ गयी।

जो जिसको चाहता है, जिसका जिसके प्रति गाढ स्नेह है, तीव्र अनुराग है उसे देखकर के उसका चित्त वैसे ही खिल जाता है जैसे सूर्य का उदय होते ही कमल खिलने लगता है।

चार शब्द हैं दृग, दृष्टि, दृष्टा और दर्शन यदि ये समझ में आ जायें तो बात बहुत अच्छे से समझ में आ सकती है। दृग-नेत्र, दृष्टा-देखने की शक्ति से युक्त वह आत्मा, दृश्य-जिसे देख रहा है और दर्शन-देखने की क्रिया। यहाँ पर विशुद्धि की बात कही विशुद्धि माने निर्मलता, मल से रहितपना, स्वच्छता, जहाँ पर इसके अलावा और कुछ है ही नहीं। जैसे किसी रागी/मोही व्यक्ति को हर दृश्य में अपनी प्रेयसी ही दिखती है ऐसे ही भगवान् के प्रति जो श्रद्धावान् होता है उसे सब जगह भगवान् ही भगवान् दिखाई देते हैं। बात यह है कि ये उसकी दृष्टि की विशेषता है। कोई कहे दीवार में, मूर्ति में भगवान् कैसे दिखाई दे गये ? तो ये देखने वाले पर निर्भर करता है। एक वस्तु को देखकर एक व्यक्ति उसके बारे में अच्छा सोचता है, एक बुरा सोचता है।

एक बार एक सुन्दरी वेश्या का मरण हो गया, उसे शमशान ले जाया गया। वहाँ तीन लोगों की दृष्टि उस मृत शव पर पड़ी। पहला जो विषय लोलुपी, कामवेदना से पीड़ित था वह सोचता है यदि आज ये जीवित होती तो मैं इसका उपभोग करता, अरे! मैं इसका उपभोग नहीं कर सका मेरा ये जीवन निरर्थक है। उसी समय एक कुत्ता उस वेश्या के शरीर को देखकर सोचता है कि कितना चिकना-चुपड़ा मांसल शरीर है यदि ये सारे लोग यहाँ से चले जायें तो मैं इसे खाकर अपनी भूख मिटा लूँ। देखिये भोगी की दृष्टि में रूपराशि दिख रही है, कुत्ते की दृष्टि में रूप राशि कुछ नहीं है उसे माँस खाने से मतलब है और तीसरी दृष्टि एक मुनि महाराज जो श्मशान में ध्यान लगा रहे थे उनकी पड़ी उन्होंने वेश्या को देखकर सोचा कि देखो इस जीव ने पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य जैसी सुन्दर पर्याय प्राप्त की लेकिन सारी जिन्दगी विषय भोगों में बिताकर आज मर-मिट कर राख होने जा रही है। अगर ये संयम धारण करके आर्यिका बन जाती तो स्त्री पर्याय को छोड़कर देवत्व को प्राप्त हो जाती। इससे

फलित हो रहा है कि एक शव लेकिन तीन आँखें अपनी दृष्टि से देख रही हैं भोगी-भोगों की आकांक्षा कर रहा है, भूखा कुत्ता भोजन की आकांक्षा कर रहा है और योगी आत्मा में छिपी योगशक्ति का चिंतन कर रहा है।

किसी एक मूर्ति को देखकर एक कहता है पाषाण है, दूसरा कहता है मूर्ति है, तीसरा कहता है क्या संस्कृति है, अगला कहता है वास्तव में कलाकार की कला तारीफ के काबिल है, अगला कहता है कुछ नहीं पत्थरों का ढेर लगा है, तो वहीं एक कहता है ये तो साक्षात् भगवान् हैं एक बार माथा टिकाने से मेरे असंख्यात भव के कर्म क्षय हो सकते हैं, एक बार दर्शन करने से अनंत उपवास करने का फल मिल जाता है, और वास्तव में जो इस प्रकार की श्रद्धा भक्ति से देखता है उसे मिल भी जाता है।

तो विशुद्धि का अर्थ समझा निर्मलता और दर्शन का अर्थ समझा कि हमें दृश्यों को निर्मल नहीं करना है जिसे देख रहें हैं उसे चमक. ाना नहीं है फिर क्या करना है? दृष्टा में कोई कमी नहीं सभी की आत्मा एक जैसी है चाहे वे सिद्ध परमेष्ठी, अरिहन्त परमेष्ठी, आचार्य, उपाध्याय, साधु हों, चाहे सामान्य निगोदिया जीव, चाहे कोई व्यवहार राशि का जीव सबकी आत्मा एक जैसी है शक्ति की अपेक्षा से कोई अंतर नहीं है, हमारे दृष्टापने में अंतर नहीं, हम ज्ञाता दृष्टा हैं। फिर क्या करना है? बात कह रहे थे कि दृश्य में कमी नहीं है दृश्य को निर्मल नहीं कर सकते जो दृश्य जैसा है, वैसा ही था वैसा ही रहेगा और हम अपने दृष्टापन में भी कोई अंतर नहीं डाल सकते। फिर दो चीज हमारे पास बचीं एक दर्शन और एक दृष्टि।

दर्शन तो क्रिया है वह क्रिया तो कैसे भी कर लो चाहे निर्मल दृष्टि से, चाहे समल दृष्टि से। कोई भी क्रिया हो जैसे-चलना है तो चाहे कोई धीरे चले या कोई तेज चले रास्ता तो वही है किन्तु सबकी चलने की विधि अलग-अलग होती है। बोलना भी क्रिया है

किन्तु सबके बोलने की विधि अलग-अलग होती है। ऐसे ही देखना क्रिया है सबके देखने की विधि अलग-अलग होती है। विधि अलग. -अलग हो, न भी हो फिर भी हम उस क्रिया में विशेष अंतर नहीं डाल सकते और हाँ क्रिया में अन्तर डालने से इतना विशेष लाभ भी नहीं होगा किन्तु यदि दृष्टि को निर्मल बना लेंगे तो क्रिया अपने आप निर्मल हो जाती है। दृष्टि निर्मल होने से दृश्य स्वयमेव निर्मल हो जाते हैं और नि:संदेह दृष्टा भी निर्मल हो जाता है।

ऐसा कैसे हो जाता है? यदि आँख में कीचड़ आ रहा हो या जाल पड़ रहा हो, फिर व्यक्ति चाहे चश्मा लगाये, चाहे चश्मा साफ करे या सामने वाली वस्तु भी साफ करे किन्तु इससे क्या फर्क पड़ने वाला है जब तक कि वह आँख को साफ न करे। तो सबसे पहले जैसे आँख को साफ करना जरूरी होता है तभी उस चश्मे के लैंस को, वस्तु को साफ करना सार्थक है। दूसरी बात यह भी है कि आँख की गंदगी ही निकाल दो तो चश्मा भी साफ है और वस्तु भी साफ है। ऐसे ही हमने अपने दर्शन को विशुद्ध कर लिया अर्थात् दर्शन को विशुद्ध करने का आशय है उस श्रद्धा में करुणा का जल आ जाना, जिस करुणा के जल से कषायों की तीव्रता का मल ध ुल जाये, मिथ्यात्व का मल धुल जाये, अन्य स्वार्थपने की गंदगी ध ुल जाये, विषय कषायों की गंदगी धुल जाये। यह श्रद्धा व करुणा के जल के बिना असंभव है।

महानुभाव ! जब श्रद्धा दृढ़ होती है विशुद्ध होती है तब व्यक्ति जिनेन्द्र प्रभु के अलावा अन्य किसी के समक्ष झुक नहीं सकता। जब दशानन ने किष्किन्धपुर पर चढ़ाई की, बालि का रावण से युद्ध होना था तब बालि ने कहा मैं सेनासहित दशानन को भृकुटीरूपी लता के उत्क्षेप मात्र से बायें हस्ततल की चपेट से ही चूर्ण करने में समर्थ हूँ किन्तु जिससे व्यर्थ प्राणी हिंसा हो ऐसे युद्ध से क्या लाभ ? जब पहले मुझे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ था तब मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं

जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के सिवाय अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। अत: मैं न तो इस प्रतिज्ञा का भंग करना चाहता हूँ और न प्राणियों की हिंसा ही। ऐसा कह उन्होंने अपने छोटे भाई सुग्रीव को राज्य दे गगनचन्द्र गुरु से दीक्षा स्वीकार कर ली।

एक बार बालि मुनिराज कैलाश पर्वत पर प्रतिमा योग से विरा. जमान थे। तभी आकाशमार्ग से रावण अपने पुष्पकविमान में बैठकर जा रहा था। सहसा उसका विमान रुक गया। तदनंतर 'यह बालि है' ऐसा जानकर दशानन को पिछले बैर का स्मरण हुआ उसने क्रोध में आ कैलाश पर्वत को उठाना प्रारंभ किया। उस समय उस पर्वत पर स्थित अनेक जीवजन्तु सर्प, सिंह, हरिण, हाथी आदि सभी भयभीत हो इधर-उधर दौड़ने लगे, चारों ओर हाहाकार मचा तब बालि मुनि ने अपने अवधिज्ञान से इसका कारण जाना। यद्यपि उन्हें स्वयं कुछ भी पीड़ा नहीं हुई थी और पहले की तरह उनका समस्त शरीर निश्चल रूप से अवस्थित था तथापि उन्होंने विचार किया कि भरत चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये गए रत्नमय 72 जिनालय, कहीं ये नष्ट न हो जाएँ एवं इस पर्वत पर इतने पशु-पक्षी निवास करते हैं कहीं ये सब मृत्यु को प्राप्त न हो जाएँ, इतने मुनि आदि साधनारत् हैं किसी को कहीं कष्ट न हो उनके मन में इस प्रकार दया का करुणा का स्रोत फूट पड़ा, संक्लेशतम दया उनके हृदय से प्रस्फुटित हो रही थी तभी उन्होंने पर्वत के मस्तक को अपने पैर के अँगूठे से दबा दिया। जिससे सभी की रक्षा हुई। पश्चात् बालि मुनिराज ने निर्वाण को प्राप्त किया।

महानुभाव ! इसीलिये आचार्य भगवन् अकलंक देव स्वामी जी ने कह दिया कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिये आवश्यक है 'संक्लेशतम दया'। प्राणी मात्र का कल्याण हो, मैं प्राणी मात्र का कल्याण कैसे करूँ। जैसे एक माँ अपने बच्चे को बचाने के लिये सब कार्य को छोड़कर दौड़कर जाती है कि मेरा बेटा कुयें के पाट पर खेल रहा है कहीं गिर न जाये, ऐसे ही जो बनने वाले तीर्थंकर होते हैं उनके मन में भी तीव्र भावना होती है संसार के प्रत्येक प्राणी

के प्रति। माँ के मन में तो मात्र अपने बेटे के प्रति भावना होती है किन्तु बनने वाले तीर्थंकर के मन में प्राणीमात्र के प्रति कल्याण की भावना होती है, करुणा दया की भावना होती है।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज जन्म से ही दयालु एवं करुणाशील प्रकृति के थे। उन्हें दूसरों की पीड़ा भी अपनी पीड़ा से ज्यादा दु:खदायी बन जाती थी। कई बार दूसरे दु:खी प्राणियों को देखकर वे आर्द्रचित्त हो जाते थे। दु:ख से पीड़ित व संक्लेशित व्यक्तियों को तथा साधर्मी बंधुओं को संकटापन्न व विपत्तिग्रस्त देख. कर कई बार उनके नेत्र करुणा के जल से नम हो जाते थे। उनके मन में संसार के दु:खी प्राणियों को देखकर ऐसी संक्लेशतम दया प्रादुर्भूत हो जाती थी, जैसी करुणा तीर्थंकर प्रकृति के बंध के समय पूर्वभव में तीर्थंकर महापुरुषों के होती है।

एक बार सातगौडा (आ. शांतिसागर जी का गृहस्थ नाम) हाथ में टूटे लोटे को लेकर शौचादि क्रिया से निवृत्त हो घर आए। उनकी बहिन कृष्णाबाई ने पूछा ''भैया'' आज बहुत देर से क्यों आये? और ये लोटा भी टूटा है, तब उन्होंने बताया मार्ग में एक सर्प, मेंढक को डंसने के लिए आतुर था। मैंने सोचा अब क्या करना चाहिए। मेरी सर्प व मेंढक दोनों के प्रति करुणा उमड़ी। मैंने लोटे का पानी फेंककर एक पत्थर पर लोटा बजाना प्रारंभ किया जिसकी विशेष ध्वनि से सर्प फन फैलाकर नाचने लगा एवं उसने मेंढक को छोड़ दिया। इस तरह मेंढ़क के प्राण बचे और सर्प पाप प्रवृत्ति से बचा और मैं उस दृश्य को देखकर संक्लेशित हो रहा था, सो मैं उस संक्लेशता से बचा।

आचार्य अकलंकदेव स्वामी जी ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य कारण है संक्लेशतम दया, जीव मात्र का कल्याण करने की भावना इतनी हो जाये कि वह संक्लेशतम दया का रूप धारण कर ले तो वह जीव तीर्थंकर प्रकृति बाँधने का अधिकारी होता है।

तो दर्शनविशुद्धि का आशय सम्यग्दर्शन की निर्मलता नहीं है, क्षायिक दर्शन की प्राप्ति नहीं है क्योंकि क्षायिक दर्शन में कोई अतिचार नहीं लगते, उपशम सम्यक्दर्शन में भी कोई अतिचार नहीं लगते, क्षयोपशम दर्शन में लगते हैं किन्तु क्षयोपशमसम्यक्दृष्टि भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकता है। उपशम वाला नहीं कर सकता, क्षा. यिक वाला कर सकता है। क्षयोपशम दृष्टि वाले में अतिचार तो लग रहे हैं फिर विशुद्धि क्या चीज है ? विशुद्धि है दृष्टि की निर्मलता अर्थात् प्राणी मात्र का कल्याण करने की तीव्र भावना। भावना वह है जो अनवरत भायी जाती है जैसे घर में यदि मिठाई बनी है तो बच्चा चाहे वह पढ़ रहा है, खेल रहा है किन्तु उसकी निगाह वहीं लगी है उपयोग वहीं लगा है कि कब मुझे मिठाई मिले ऐसे ही जो व्यक्ति अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिये व पर का कल्याण करने के लिये अनवरत, अखण्ड रूप से निरंतर वही विचार करता जा रहा है वह होती है भावना।

भावना के बाद होती है प्रभु परमात्मा की उपासना, उपासना के साथ जब आगे बढ़ता है तो होती है साधना जिससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है इसके बाद अपने आप ही साध्य की प्राप्ति होती है। उस दर्शनविशुद्धि भावना को आप भी भा सकते हैं ऐसा नहीं कि आप तीर्थंकर नहीं बन सकते किन्तु कारण जुटाना पड़ेगा, रास्ता ये ही है, इस रास्ते पर चलोगे तो आप पहुँच जाओगे, इस प्रकार की प्रवृत्ति करोगे तो आपको भी तीर्थंकर प्रकृति का लाइसेंस मिल जायेगा। आप भी स्व-पर कल्याण करने के अधिकारी होंगे।

तो आज बस इतना ही कहना चाहते हैं दर्शनविशुद्धि भावना को बहुत निर्मल बनाओ, अपने कल्याण की व दूसरों के कल्याण की निरंतर भावना भाओ इससे ही स्व-पर का कल्याण संभव है।

।। श्री अजितनाथ भगवान् की जय ।।

दर्शनविशुद्धि भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

१. जिनेन भगवतार्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षव. र्त्मनि रुचि र्दर्शनविशुद्धिः

(सर्वार्थसिद्धि, आ. पूज्यपाद स्वामी)

जिन भगवान् अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्ग पर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है।

२. निज शुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रया. दिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः पुरुषाः।

(प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति)

निज शुद्धात्मा की रुचि रूप सम्यक्त्व का जो साधन है ऐसा तीन मूढ़ताओं और पच्चीस मल से रहित तत्त्वार्थ के श्रद्धान रूप लक्षण वाले दर्शन से जो शुद्ध हैं वे पुरुष दर्शन शुद्ध कहे जाते हैं।

३. जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशङ्कित-त्वाद्यष्टाङ्गादर्शनविशुद्धिः।

जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि तथा निःशंकितादि आठ अंग सहित होना सो दर्शनविशुद्धि है।

(राजवार्तिक, आ. अकलंकदेव स्वामी)

४. निःशंकितत्वादिगुणपरिणति दर्शनविशुद्धिः।

(भगवती आराधना, आ. शिवकोटि)

निशंकित वगैरह गुणों की आत्मा में परिणति होना यह दर्शनविशुद्धि है।

५. दंसणं सम्मद्दंसणं, तस्स विसुज्झदा दंसणविसुज्झदा, तीए दंसणविसुज्झदाए जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति। तिमूढावोढ-अट्ठ-मलवदिरित्तसम्मद्दंसणभावो दंसणविसुज्झदा णाम।

(धवला जी, पु. 8)

दर्शन का अर्थ सम्यग्दर्शन है, उसकी विशुद्धता का नाम दर्शनविशुद्धता है। उस दर्शनविशुद्धि से जीव तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करते हैं। तीन मूढ़ताओं से रहित और आठ मलों से व्यतिरिक्त जो सम्यग्दर्शनभाव है उसे दर्शनविशुद्धता कहते हैं।

6. **जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गे रुचिर्मता।**
निःशङ्कतादिकाष्टाङ्गा विशुद्धिर्दर्शनस्य सा॥

(उत्तरपुराण, 63 पर्व, 312)

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि होना सो दर्शनविशुद्धि है। उसके निःशङ्कता आदि आठ अंग हैं।

7. **एवं सर्वान् मलांस्त्यक्त्वा पंचविंशतिसंख्यकान्।**
मूढत्वदुर्मदादींश्च सम्यक्त्व मल दायिनः॥७३॥

दर्शनस्य विशुद्धिं स्वमनोवाक्कायचैष्टितैः।
चकार महतीं मुक्त्यै तीर्थराजविभूतिदाम्॥७४॥

(श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्)

सम्यग्दर्शन में मल उत्पन्न करने वाले मूढता और दुष्टमद आदि समस्त पच्चीस दोषों का त्याग कर अपने मन-वचन-काय की चेष्टाओं द्वारा तीर्थंकर की महान् विभूति को देने वाली दर्शनविशुद्धि नामक महाभावना मुक्ति प्राप्त करने के लिए सदा भाई जाती है।

निशङ्काद्यष्टगुणा जिनकथिते मोक्षसत्पथे श्रद्धा।
दर्शनविशुद्धिराद्यस्तीर्थकर प्रकृति कृद्धेतुः॥१३२।

(-हरिवंशपुराण, सर्ग-34)

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित समीचीन मोक्षमार्ग में निःशंकता आदि आठ गुणों से सहित जो श्रद्धा है उसे दर्शनविशुद्धि कहते हैं। यह तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रथम कारण है।

भावो हितस्य भव्यानां, स्वात्मदृष्टि-विशुद्धये।
निर्मलत्वं स्वचित्तस्य, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

स्व आत्मा की दृष्टि-विशुद्धि के लिये भव्य जीवों के हित का भाव अर्थात् यह दर्शनविशुद्धि भावना चित्त की निर्मलता का और तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

२. विनयसम्पन्नता भावना

महानुभाव ! विगत दिवस सुन रहे थे तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य कारणभूत दर्शनविशुद्धि भावना के संबंध में। हमारी दृष्टि के निर्मल हुये बिना दृष्टा भी निर्मल नहीं हो सकता, दृश्य भी निर्मल नहीं होता और दर्शन की क्रिया को भी निर्मल नहीं कह सकते। दृष्टि को निर्मल करने के लिये चाहिये करुणा का जल, अनुकम्पा-दया का जल। इसके माध्यम से उस दृष्टि को धोया जाये उस दृग का प्रक्षालन किया जाये। जब दृग निर्मल हो जाता है, दृष्टि निर्मल हो जाती है फिर दृश्यों को निर्मल करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। दृष्टि के निर्मल होते ही दर्शन निर्मल माना जाता है, इतना ही नहीं वह दृष्टा भी शुद्ध, परमशुद्ध, शाश्वत शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है।

महानुभाव ! जब व्यक्ति के परिणामों में निर्मलता आती है कषायों में मंदता आती है तो व्यक्ति स्वतः ही झुकता चला जाता है। संसार में जितने भी फलवान् वृक्ष हैं वे नियम से झुकते ही झुकते हैं। जिस वृक्ष के ऊपर जितने ज्यादा पुष्प, पत्र और फल हैं वह उतना ज्यादा झुक जाता है। जिस वृक्ष पर फल नहीं हैं वह झुकता नहीं है। ठूंठ झुकता नहीं है। विनय सम्पन्नता के मायने है आत्मा में सम्पन्नता हो क्योंकि संसार का प्रत्येक प्राणी सम्पन्नता चाहता है किन्तु आत्मा सम्पन्न कैसे हो सकती है ? जो जिस पदार्थ से अपनी आत्मा को सम्पन्न मानता है वह उसी पदार्थ को आत्मा में भरने का प्रयास करता है, विपन्नता में कोई नहीं रहना चाहता।

कोई व्यक्ति आत्मा के रिक्त स्थान को पुद्गल से भरता है सोने-चाँदी के टुकड़ों से भरता है, कागज के नोटों से भरता है जिस पर किसी गवर्नर की मोहर ठुकी है, कोई व्यक्ति आत्मा की रिक्तता को साधनों से भरता है, कोई वाहनों से भरता है, कोई स्त्री और पुत्रों से भरता है, कोई भरता है अपनी अनंत आकांक्षाओं से। ये नाना

प्रकार की वस्तुएँ इकट्ठी कर-करके आत्मा की रिक्तता को भरने का प्रयास किया किन्तु इस आत्मा की रिक्तता ज्यों की त्यों रही।

अब तक अगणित जड़ द्रव्यों से, प्रभु ! भूख न मेरी शांत हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही।।

विशेषता यह है कि आत्मा की रिक्तता बाहर से नहीं भरी जा सकती। आत्मा में अनावश्यक रूप से लगा हुआ कर्म अलग कर दिया जाये तो आत्मा अपने आप पूर्ण हो जायेगी। आत्मा के साथ लगी हुयी गंदगी को यदि अलग कर दिया तो आत्मा स्वत: निर्मल हो जायेगी। इस आत्मा में अलग से कुछ और लगाने की आवश्यकता नहीं है। जैसे वस्त्र गंदा हो जाता है तो उसे साफ करने के लिये अलग से साबुन की आवश्यकता है किन्तु आत्मा का वस्त्र ऐसा है जिसमें ऊपर से कुछ मिलाने की आवश्यकता नहीं है जो कुछ है वह सब अंदर है, बस हटाते जाना है। जैसे अग्नि के माध्यम से ध ातु की कालिमा को जलाया जाता है ऐसे ही आत्मा में संलग्न उस किट्ट कालिमा को नष्ट करना है बाहर से कुछ नहीं लगाना।

महानुभाव ! आत्मा में जब निर्मलता आती है तब आत्मा विनम्र-. विनम्रतर होती चली जाती है और आत्मा की सम्पन्नता है आत्मा में समस्त गुणों का आविर्भाव हो जाना। आत्मा की सच्ची सम्पन्नता है विभाव का पूर्ण रूप से त्याग कर देना, आत्मा की सच्ची सम्पन्नता है जितने भी विकारी भाव हैं उन सबसे बच जाना, सच्ची सम्पन्नता है कषायों के चंगुल से छूट जाना। जिस व्यक्ति के पास कषायों का उद्वेग नहीं है, जिस व्यक्ति के पास पाप रूप वृत्ति नहीं है, जिस व्यक्ति के पास विषयों का दलदल नहीं है, जिस व्यक्ति के पास दुर्लेश्याओं का प्रभाव नहीं है वास्तव में ऐसी आत्मा ही सम्पन्न आत्मा है।

आचार्यों ने कहा जीवन में जब कभी भी, जो कोई भी आत्मा सम्पन्न होगी उसका सिर्फ और सिर्फ एक ही उपाय है, एक ही

कारण है दूसरा कोई कारण ही नहीं है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति महल में विराजमान है बाहर निकलने का एक ही रास्ता है दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं, तो चाहे वह आज महल से निकले या कल उसी रास्ते से जाना पड़ेगा या बाहर भटकने वाले व्यक्ति को महल के अंदर जाना हो और रास्ता एक ही हो तो चाहे महल के अंदर प्रवेश आज करे चाहे कल करे, चाहे युगान्तर के बाद करे, चाहे वह कल्पकाल बीतने के बाद करे किन्तु जब उस दरवाजे में प्रवेश करेगा तभी पहुँच सकेगा। ऐसे ही आत्मा को सम्पन्न करने का एक ही रास्ता था, आज भी एक ही रास्ता है और भविष्य में भी एक ही रास्ता रहेगा।

वह कौन सा रास्ता है जिससे हम अपनी आत्मा को सम्पन्न कर सकें ? वह रास्ता है विनय। विनय के माध्यम से आत्मा सम्पन्न हो जाती है। विनय क्या चीज है ? **''विशिष्टं प्रति आत्मानं नयति इति विनयः''** विनय वह है जो आत्मा को आत्मा की विशेषताओं की ओर ले जाती है आत्मा के गुणों की ओर ले जाती है, आत्मा के स्वभाव को प्रकट करती है, आत्मा के शुद्ध लक्षणों को प्रकट करती है वह विनय होती है। और जो विनयसम्पन्नता को चाहता है, किससे सम्पन्नता? विनय से, अहंकार से नहीं। अहंकार से तो आत्मा की शक्ति नष्ट होती है, विनय से आत्मा की सम्पत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जाती है। ऐसे बढ़ती है कि उसमें वृद्धि गुणोत्तर रूप से होती है। ज्यों-ज्यों जीवन में विनय आती चली जाती है त्यों-त्यों जीवन में गुणों की वृद्धि होती चली जाती है।

महानुभाव ! एक जिज्ञासा मन में आती है कि विनय सम्पन्नता भावना को क्यों रखा ? इसलिये रखा कि यह परोक्ष में अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का ही नाम है। जैसे कोई व्यक्ति राष्ट्रपति से कहे कि मैं इस देश के प्रथम पुरस्कार को प्राप्त करना चाहता हूँ, इतना उसने माँग लिया इससे ये सिद्ध होता है वह सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति बनना चाहता है। कोई व्यक्ति कहे मैं भगवान् का सच्चा भक्त बनना चाहता

हूँ तो उसने परोक्ष में यह माँग लिया कि वह आज भक्त बनने की भावना भा रहा है वह कल का भगवान् है। ऐसे ही विनय सम्पन्नता के मायने हैं कि अपनी आत्मा को अपने ही गुणों से सम्पन्न करना, जिनेन्द्रगुण रूपी सम्पत्ति को प्राप्त कर लेना और प्राप्त करने के लिये विनम्र होना जरूरी है। बिना विनम्रता के चेतना में अंतरंग के गुण प्रकट नहीं होते।

आप जानते हैं जब व्यक्ति पहाड़ी पर चढ़ता है तो अकड़कर के नहीं झुककर के चलता है। अकड़कर के पहाड़ के ऊपर चलेगा तो गिर जायेगा, व्यक्ति अकड़कर के तो सिर्फ नीचे उतर सकता है चढ़ नहीं सकता। जब व्यक्ति किसी ढलान से नीचे उतरता है तब पीछे की ओर झुक जाता है सुकड़ जाता है सीना बाहर निकल आता है किन्तु जब उसी पहाड़ी पर चढ़ता है तो व्यक्ति आगे से थोड़ा झुक जाता है। तो ऊपर चढ़ने के लिये झुकना जरूरी है जब झुकना नहीं है अकड़ना है तो समझ लो हमारी यात्रा नीचे की ओर प्रारंभ हो गयी।

महानुभाव ! जब भी कोई व्यक्ति नीचे रखी हुयी वस्तु को उठाने का प्रयास करेगा तो उसे झुकना पड़ेगा, अकड़कर के नीचे रखी वस्तु को उठाया नहीं जा सकता, ऐसे ही हमारी आत्मा के अन्तस्थल में जो कर्मों के नीचे दबे आत्मा के गुण हैं, धर्म हैं उन्हें यदि हमें प्रकट करना है तो फिर हमें झुकना पड़ेगा। गाँधी जी के जीवन की एक घटना है, उनकी मेज पर कई प्रकार के कागज बिखरे पड़े थे। एक आदमी गाली से भरे हुये चार कागज उनके सम्मुख रख गया। गाँधी जी काम में व्यस्त थे, उनको एक पिन की आवश्यकता हुई जो गाली से भरे कागजों में लगी हुई थी। इधर-उधर ढूँढ़ने पर गाँधी जी की निगाह उन कागजों पर गई। उनमें से पिन निकालकर बाकी कागज रद्दी की टोकरी में डाल दिये। दूसरे दिन वह व्यक्ति गाँध ीजी की प्रतिक्रिया जानने के लिये आया और पूछा आपने वे कागज पढ़े, जो मैं आपके पास कल रख गया था, कैसा लगा? गाँधीजी बोले-भैया बड़ा लाभ हुआ, आपके कागजों में जो पिन लगा था वह

मेरे अच्छे समय पर काम आया, आपने मेरी बड़ी सहायता की। गाँध ीजी की बात सुनकर वह बड़ा प्रभावित हुआ।

महानुभाव ! विनय सहित मनुष्य सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यह वह सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है सरलता का प्रतीक है। विनय गुण दूसरे को झुकने को विवश कर देता है। इसे ऐसे भी समझ सकते हैं कि किसी व्यक्ति को भूमि में से खोदकर कुछ निकालना है तो खोदने के लिये अकड़ना नहीं पड़ता। ऐसे ही हम भी चेतना के अंदर से अपने गुणों को निकालने का प्रयास करें, खदान में से गुणरूपी रत्नों को निकालने का प्रयास करें अत: झुकना पड़ेगा। खोदने के लिये भी झुकना पड़ेगा, खोजने के लिये भी झुकना पड़ेगा झुकना बहुत जरूरी है। इसलिये तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत द्वितीय भावना कही विनम्रता, विनयसम्पन्नता, सहज हो जाना, सरल हो जाना, नम्र हो जाना, पानी-पानी जैसा हो जाना। परोक्ष में यही कहें फलों से लदे वृक्ष की कल्पना।

ऐसे ही मेरी आत्मा इतनी विनम्र हो जाये कि मैं संसार के प्रत्येक प्राणी को देख सकूँ। अकड़कर चलने वाला व्यक्ति पैरों के नीचे दबकर के मरने वाली चींटी को कहाँ देख पाता है। जैसे राजा श्रेणि ाक के हाथी के पगतल मेढक भी मर गया तो राजा श्रेणिक ने कहाँ देख पाया। जब ऊँचे आसन पर बैठकर के व्यक्ति चलता है तो नीचे वालों को नहीं देख पाता उसकी दृष्टि भी ऊँची हो जाती है, कान भी ऊँचे हो जाते हैं इसलिये छोटी-मोटी आवाजें उसके सुनने में नहीं आती। जब व्यक्ति विनम्रता से चलता है, जमीन पर चलता है तब वह केवल चींटी को ही नहीं देखता उससे सूक्ष्म जीवों को भी देखकर चलता है इससे केवल जीवों की ही रक्षा नहीं होती अपितु स्वयं के शरीर की भी रक्षा होती है। नीचे देखकर के नहीं चलेगा तो काँच, काँटा, कंकड़, पत्थर आदि चुभ सकते हैं, इतना ही नहीं बिच्छु-सर्प आदि जानवर काट भी सकते हैं इसलिये नीचे झुककर

के, देखकर के चलना, यह निःसंदेह श्रेयोमार्ग है, कल्याण का मार्ग है, उत्थान का मार्ग है, विकास का मार्ग है, प्रगति का मार्ग है। तो विनम्रता के मायने होता है विशिष्ट नम्रता।

एक व्यक्ति वह है जो बुढ़ापे में झुकता है। क्यों झुकता है ? वह अनुभव के भार से झुक गया, जब तक जीवन में अनुभव का भार नहीं आता है, इस मनुष्य भव रूपी वृक्ष पर कभी परोपकार, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य के फल नहीं लगते हैं, अनुभव के फल नहीं लगते हैं तब तक व्यक्ति झुकता नहीं है। ज्यों-ज्यों अनुभव के फल आने लगते हैं त्यों-त्यों झुकाव आने लगता है। यौवन अवस्था में व्यक्ति अकड़कर चलता है किन्तु बुढ़ापे में उसकी वृद्धि इतनी हो जाती है कि उस वृद्धि के भार से झुकना पड़ता है इसलिये कहते हैं वृद्ध हो गया, उसकी वृद्धि हो गयी। सही मायने में वृद्ध ही समृद्ध है। इसलिये जो समृद्धि चाहते हैं तो वृद्धों जैसा झुकाव होना जरूरी है।

आपने देखा होगा वृद्ध पुरुष केवल शरीर से नहीं झुकते हैं अंतरंग से भी झुकते हैं, उनके परिणाम नम्र होते हैं वे दूसरों के दो कड़वे शब्दों को सुनकर भी मुस्कुराते हैं किन्तु बच्चा बड़े की बात भी सुन नहीं पाता क्योंकि उसके अंदर विनम्रता नहीं है अकड़ है, अहंकार है। अहंकार तो चट्टान की तरह है उसमें वह लोच व झुकाव कहाँ, नम्रता-विनय कहाँ, किन्तु वृद्ध में यह सब चीज हैं इसलिये वह झुक सकता है, अपने से लघु के द्वारा किये गये अपमान को भी सहजता में सहन कर लेता है क्योंकि उसके पास अनुभव का धन होता है। इसलिये यहाँ पर कहा विनयसम्पन्नता भावना। उस विनम्रता को प्राप्त करने की सतत भावना भाओ।

एक निर्धन व्यक्ति कहता है क्या मेरा पूरा जीवन दरिद्रता के साथ ही व्यतीत होगा? क्या मैं कभी अपने जीवन में स्वयं का मकान नहीं बना पाऊँगा? भगवान् क्या मैं जीवन भर सूखी रोटी ही खाता रहूँगा? वह भावना भाता है कि मैं जीवन में अनुकूलताओं को प्राप्त करुँ। वह जैसी भावना भाता है वैसा ही बढ़ता चला जाता है।

विनयसम्पन्नता के मायने हैं विनम्रता के प्रति भावना भाना, भगवान् ! क्या मेरे जीवन का अंत अहंकार के साथ ही होगा? क्या मेरे जीवन में सम्पन्नता नहीं आयेगी? क्या मैं कभी विनम्र नहीं बन पाऊँगा, हे भगवान् ! मैं विनम्र हो जाऊँ, मेरे अंदर बहुत नम्रता आ जाये, इतनी नम्रता आ जाये कि संसार का कोई भी प्राणी मुझसे ज्यादा नम्र न हो जाये, अर्थात् मैं संसार के सब व्यक्तियों को देख सकूँ, सबके बारे में सोच सकूँ। सब व्यक्तियों से मैं अपने को लघु कर सकूँ। चाहे वे व्यक्ति मुझे देख पायें या न देख पायें किन्तु मैं सबको देख लूँ अर्थात् मैं तो ज्ञाता-दृष्टा बन जाऊँ, सर्वज्ञ बन जाऊँ। विनम्रता के माध्यम से ऐसी शक्ति प्राप्त होती है।

महानुभाव ! विनय मुख्य रूप से पाँच प्रकार की होती है। दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय। सम्यग्दर्शन की विनय करना, सम्यक्दृष्टि की विनय करना, उसके गुणों की विनय करना यह दर्शन विनय कहलाती है। सम्यग्ज्ञान की विनय करना, सम्यग्ज्ञान के कारणों की विनय करना, साधनों की विनय करना, सम्यग्ज्ञानियों की विनय करना, उनके सामने नम्र वृत्ति करना अर्थात् मन वचन काय से झुकना ज्ञान विनय है। चारित्र विनय अर्थात् सम्यक् चारित्र के प्रति विनम्र रहना, सम्यक्चारित्र शब्द का भी अपमान नहीं करना, सम्यक् चारित्रवानों का भी अपमान नहीं करना। उस चारित्र धर्म का भी अपमान नहीं करना उनके प्रति तीनों योगों से विनम्र रहना। सम्यक्तप के प्रति नम्र वृत्ति, तपस्वियों के प्रति नम्रता, तप के फल के प्रति नम्रता और तप की भावना के प्रति विनम्र रहना तप विनय है। जितना जिसके गुण के प्रति विनम्र रहा जाता है उतनी जल्दी वह गुण प्राप्त हो जाता है इसलिये विनय को बहुत बड़ी चुम्बक कहा गया है केवल यही एक ऐसी चुम्बक है जिसके माध्यम से चेतना के समग्र गुणों को प्राप्त किया जा सकता है, इसके अलावा अन्य ऐसी कोई चुम्बक नहीं है।

उपचार विनय-लोक व्यवहार में अपने से जो ज्ञानवृद्ध हैं, तपवृद्ध हैं या साधना में वृद्ध हैं, दीक्षा में वृद्ध हैं उन सबके प्रति विनम्र. ता का भाव रखना, अपने से पूज्यजनों के प्रति नम्रता का व्यवहार रखना। यह पाँच प्रकार की विनय पाँचों पापों को नष्ट करने वाली है, पंचपरावर्तन को नष्ट करने वाली है, पंचम गति को देने वाली है, पंचम ज्ञान केवलज्ञान को देने वाली है इसलिये व्यक्ति को अपने जीवन में बहुत विनम्र होना चाहिये, बहुत गहरा होना चाहिये क्योंकि जो जितना गहरा होता उसमें उतना ज्यादा समा जाता है। पहाड़ की चोटी पर पानी नहीं ठहरता किन्तु समुद्र इतना गहरा होता है कि सैकड़ों हजारों नदियों को अपने में स्थान दे सकता है। ऐसे ही जिस व्यक्ति की आत्मा जितनी नम्र, गहरी, लोचयुक्त होती है उसके अंदर उतने ही गुणों का समावेश हो जाता है और जितनी आत्मा ऊपर उठी होती है, सूंढ जैसी होती है उस पर पानी की बूंद की तरह से एक गुण भी ठहर नहीं पाता, इसलिये अपने चित्त को जल की तरह से सरल और सहज बनाओ, नम्र बनाओ। जब जल की तरह से चित्त बन जायेगा तो जैसे जल में सब कुछ अवगाहन प्राप्त कर लेता है, ऐसे आपके चित्त में भी गुणों को अवगाहन मिल जायेगा।

तो निरंतर विनयसम्पन्नता भावना भाओ। यह तीर्थंकर प्रकृति को प्राप्त करने के लिये द्वितीय कोर्स की पुस्तक है, प्रथम पुस्तक है दर्शनविशुद्धि भावना। इसका निरन्तर अध्ययन करो व भावना भाओ तब नि:संदेह आप भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में समर्थ हो सकोगे, अपनी आत्मा के साथ-साथ पर का कल्याण करने में निमित्त बन सकोगे। मैं आप सभी के प्रति भी ऐसी भावना भाता हूँ कि आप सभी भी तीर्थंकर बन सकते हैं तो बनें, अपनी आत्मा का कल्याण करें, दूसरों के कल्याण में भी निमित्त बनें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

विनय सम्पन्नता

(अर्थ सहित श्लोक)

विणयसंपण्णदाए चेव तित्थयरणामकम्मं बंधंति॥

धवला-8/3, 41/80/8

विनयसम्पन्नता से ही तीर्थंकर नामकर्म को बाँधता है।

ज्ञानादिषु च तद्वत्सु चादरो निःकषायता।
तद्द्वयं विनयस्याहुः सन्तः सम्पन्नतां स्फुटम्॥६३/३२१

(उत्तर पुराण)

सम्यग्ज्ञानादि गुणों तथा उनके धारकों का आदर करना और कषाय रहित परिणाम रखना इन दोनों को सज्जन पुरुष विनयसम्पन्नता कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन संपन्नता विनयसम्पन्नता॥

''सर्वार्थ सिद्धि''

सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण द्वारा आदर सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु तद्वत्सु चादरोऽकषायाता वा विनयसम्पन्नता।

भावपाहुड़टीका

दर्शन ज्ञान और चारित्र तथा इनके धारकों में आदर और अकषाय भाव के धारण करने को विनयसम्पन्नता कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्ष साधनेषु तत्साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नताः।

(तत्त्वार्थवार्तिकम्, आ. अकलंकदेव स्वामी)

सम्यग्ज्ञान आदि मोक्ष के साधनों में तथा ज्ञान के निमित्त गुरू

आदि में योग्य रीति से सत्कार आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है।

ज्ञानादिषु तद्वत्सु च महादरो यः कषायविनिवृत्त्या।
तीर्थंकरनामहेतुः स विनयसंपन्नताभिख्यः॥१३३॥

(हरिवंशपुराण, सर्ग 34)

ज्ञानादि गुणों और उनके धारकों में कषाय को दूरकर जो महान् आदर करना है वह तीर्थंकर प्रकृति में बन्ध में कारणभूत विनयसम्प. न्नता नामकी दूसरी भावना है।

ज्ञान दर्शन चारित्र तपस्सु तद्रमात्मसु।
सोऽ करोद्विनयं नित्यं विद्यादिगुणसागरम्॥७५॥

(पार्श्वनाथ चरित्रम्)

(वे पार्श्वनाथ भगवान्) ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और इनके धारक जीवों में विद्या आदि गुणों के सागर स्वरूप विनय को नित्य करते थे।

पूज्येषुः विनयोभावः गुणाकर्षक-ऋद्धये।
सा हि विनय सम्पन्ना, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

गुणों को आकर्षण करने वाली ऋद्धि के लिए पूज्य पुरुषों में विनय भाव जो तीर्थंकर प्रकृति का कारण है वह विनयसम्पन्नता भावना है।

३. शीलव्रतेष्वनतीचार भावना

महानुभाव ! पूर्व दिवस सुन रहे थे तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत विनयसम्पन्नता की भावना को। तीर्थंकर प्रकृति लोकोत्तर वैभव की प्रतीक है। तीर्थंकर प्रकृति का अभ्युदय निस्सीम है। जब किसी व्यक्ति को विशेष निधि देनी हो तो पहले उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। किसी के हाथ में अस्त्र-शस्त्र देने के पहले उसे यह शिक्षा दी जाती है कि ये उसका दुरुपयोग तो नहीं करेगा, इसे सम्हाल पायेगा या नहीं।

एक पिता अपने पुत्र को अपनी सम्पत्ति देता है उसके पहले उसे संस्कार देता है बेटा ! सम्पत्ति का दुरुपयोग मत करना, सम्पत्ति को प्राप्त करके अहंकारी मत होना, सम्पत्ति को प्राप्त करके अपना पतन न कर लेना उसका सदुपयोग करना है। एक सिंहनी दूध देना चाहती है तो दूध देने के पूर्व वह देख लेती है कि बर्तन स्वर्ण का है या लोहे का। अयसपात्र में वह दूध ठहरता नहीं है, छेद करके बाहर निकल जाता है। ऐसी किंवदंती है कि शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहरता है। रत्नत्रय भव्य सम्यक्दृष्टि जीव की आत्मा में ही ठहर सकता है, अभव्य की आत्मा में नहीं। बड़े-बड़े महल बालू में नहीं बनाये जाते, बड़े किले पहाड़ों पर बनाये जाते हैं जिससे नींव मजबूत हो। बड़े-बड़े वृक्ष मजबूत जड़ों के माध्यम से टिके रहते हैं छोटी मोटी जड़ों पर बड़े-बड़े वृक्ष नहीं टिक सकते। ऐसे ही तीर्थंकर प्रकृति के अभ्युदय को कौन झेल सकता है इसकी परीक्षा है विनयसंपन्नता से। जिसके मन में जितनी विनयसम्पन्नता होगी उतने ज्यादा अभ्युदय को सहन करने का वह अधिकारी होगा। जिसके अंदर विनम्रता आ जायेगी वही अपने स्वभाव में लीन हो सकता है। इसलिये तीसरे स्थान पर रखी है शीलव्रतेष्वनतीचार भावना।

शील आदि जो व्रत हैं उनमें अतीचार नहीं लगाना। क्या है शील? शील का अर्थ होता है स्वभाव।

पयडी सील सहावो, जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥

आचार्यश्री नेमिचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती जी ने कर्मकाण्ड में लिख. ा–प्रकृति, शील, स्वभाव सब एकार्थवाची हैं। दो भावनाओं में आपने देखा जो तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला हो उसकी पहली परीक्षा है कि उसकी दृष्टि निर्मल है या नहीं, द्वितीय परीक्षा है उसके पास विनम्रता है या नहीं। ऐसा नहीं कि थोड़े से ताप को प्राप्त करके दूध बर्तन के बाहर हो जाये। यदि दूध पात्र में ठहर सकता है उफनता नहीं तब तो ठीक है जिस व्यक्ति में ऐसा भाव है, ऐसा स्वभाव है, ऐसी विशेषता है कि थोड़े से अभ्युदय को पाकर वह आपे से बाहर हो जाता है तो ऐसा व्यक्ति तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकता।

जो अपने शील में रहे, अपनी मर्यादा में रहे, अपने व्रत–नियम–संकल्प के घेरे में रहे उसके बाहर नहीं जाएँ। ये छोटी–सी परीक्षा है। जैसे किसी कम्पनी में एक व्यक्ति को नौकरी मिलने वाली थी, उसमें इंटरव्यू देने के लिये बहुत से विद्यार्थी पहुँचे। उनमें से दस विद्यार्थियों को चुना गया। दस में से भी आठ निरस्त करके दो विद्यार्थी चुने। दोनों विद्यार्थियों की योग्यता लगभग एक सी थी किसी भी प्रकार से दोनों कम नहीं थे, उनकी परीक्षा के लिये अधिकारी ने अपने स्थान पर बुलाया दोनों को अलग–अलग कमरे में ठहरा दिया। अधिकारी दोनों से मिलने गया कहा तुम दोनों ही मुझे बहुत अच्छे लग रहे हो और शायद तुम दोनों कम्पनी के लिये बहुत भला कर सकते हो तुम्हारी योग्यता में कहीं कोई कमी नहीं है तुम्हारा Joining Letter दे दूँगा।

जब वह पहले व्यक्ति से चर्चा करने गया तो अपना एक पैकेट वहीं छोड़ दिया यह दिखाते हुये कि मैं भूल गया हूँ, वहीं रखा और चला आया। दूसरे व्यक्ति के कमरे में गया वैसा ही एक पैकेट वहाँ भी रखा छोड़ गया। दोनों व्यक्तियों से कहा कि तुम्हारा Joining Letter एयरपोर्ट पर ही मिल जायेगा आप वहाँ पहुँचे। दोनों पहुँचे।

वह अधिकारी सर्वप्रथम पहले व्यक्ति से मिला जिसे उम्मीद थी कि उसे ही Joining Letter मिलेगा, उस व्यक्ति ने गाड़ी से उतरकर अधिकारी को प्रणाम किया कहा–क्षमा करना महाशय आप मेरे कक्ष में आये थे तो भूल से आपका पैकेट वहाँ रह गया था कृपया आप इसे स्वीकार कीजिये। डायरेक्टर ने पूछा–इसमें क्या है ? वह बोला यह तो बंद है, मुझे क्या पता इसमें क्या है ? मैं कैसे खोल सकता हूँ क्योंकि यह मेरा पैकेट नहीं है।

डायरेक्टर दूसरे व्यक्ति की गाड़ी के समीप गया, उसमें से व्यक्ति निकलकर आया बोला–सर! मेरा Joining Letter कब मिलेगा ? बोले अभी बताते हैं। अधिकारी ने पुनः कहा–पहले वो दस हजार रुपये निकालो जो पैकेट में रखे थे। यह सुनकर वह घबरा गया, और निकालकर वह पैकेट दिया। अधिकारी ने कहा तुम्हें अब Joining Letter नहीं मिलेगा। प्रथम व्यक्ति के पास आकर के अधिकारी कहता है–तुम्हें Joining Letter अवश्य मिलेगा, ये 10 हजार रु. का पैकेट भी आपके लिये है, आप 15 दिन के अंदर कभी भी अपनी अनुकूलता से कम्पनी में आ सकते हैं। वह कहता है सर ! ये पैसे मेरे नहीं हैं। वह कहते हैं–तुम्हारे नहीं हैं पर अब तुम्हारे हो जायेंगे। क्योंकि ये पैसे मैं तुम्हारी ईमानदारी से प्रभावित होकर दे रहा हूँ।

जैसे उस अधिकारी ने अपनी कम्पनी में किसी Employ का चयन करने के पूर्व उसकी परीक्षा ली कि इस कम्पनी में आकर यह रहेगा। यहाँ कम्पनी में आकर ये दस लाख का नहीं, दस करोड़ का भी काम करेगा यदि थोड़ी सी भी इसकी नीयत चूक गयी तो ये मुझे बहुत बड़ा धोखा दे सकता है। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति के अभ्युदय को प्रकृति तुम्हें दे, उसके पहले प्रकृति तुम्हारी परीक्षा करना चाहती है कि तुम अपने शील में, अपने स्वभाव में कितने रह सकते हो। कहीं ऐसा तो नहीं तीर्थंकर पद के वैभव को प्राप्त करके तुम संभल न पाओ। यदि संभलने में समर्थ हो तब तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध

कर सकते हो, संभलने में समर्थ नहीं हो तो कैसे बंध करोगे। जो अपने आप को नहीं संभाल सकता वह दूसरों को कैसे संभालेगा।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध का आशय तो यह होता है अपने आप को संभाल करके दूसरों को संभाल लेना, अपने कष्टों को छिपा करके दूसरों के कष्टों को मिटा देना, स्वयं चलते हुये दूसरों को चलाना। तो शील का अर्थ होता है 'स्वभाव।'

शील का अर्थ 'ब्रह्मचर्यव्रत' से भी लिया जाता है। ब्रह्म का अर्थ होता है 'आत्मा'। उस आत्मा में चर्या करना, जब अपनी आत्मा में चर्या की जाती है तब पर व्यक्तियों से, पर वस्तुओं से संबंध टूटने लगता है। जब व्यक्ति अपने आप में रहता है, अपने आप में संतुष्ट है तब उसे बाहर के सब व्यक्ति अच्छा मानते हैं, पूजते हैं, आमंत्रित करते हैं और जो दूसरों से माँगने जाते हैं उसे कोई नहीं पूछता। जिसे कुछ नहीं चाहिये उसे पूरी दुनिया सब कुछ देना चाहती है जिसे कुछ चाहिये उसे कोई कुछ नहीं देता।

तो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना यानि अपनी आत्मा में रमण करना, चर्या करना, लीन रहना। जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता अर्थात् वह अपने आप से संतुष्ट नहीं है, उसे अपने चित्त को संतुष्ट करने के लिये दूसरी अंगना चाहिये या धन-वैभव विषयभोग चाहिये। जिसे बाहर की चीज चाहिये तो वह तीर्थंकर पद के वैभव को नहीं झेल सकता। वह उसके लायक नहीं है, वह इतना बड़ा भार न उठा पायेगा। जो व्यक्ति 1 किलो वजन नहीं उठा सकता उस पर 10 टन का वजन नहीं रखा जा सकता। तो शीलव्रत के माध्यम से यह परीक्षा है कि वास्तव में तुम तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लायक हो या नहीं।

शील का अगला अर्थ-सप्तशील होते हैं श्रावकों की अपेक्षा से। तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये 7 शील व्रत हैं। गुणव्रत वे होते हैं

जिनमें व्यक्ति अपने गुणों का संवर्धन करता है, जिसमें पहला दिग्व्रत का अर्थ है दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा ले लेना, इसके बाहर मैं सबका त्याग करता हूँ और सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखता हूँ, समता भाव रखता हूँ। फिर देशव्रत लिया उस सीमा को और छोटा कर दिया।

ताहू में फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमाण ठान अन सकल निवारा।।

वह मर्यादा को छोटी करता जाता है, जैसे आज मैं इस घर के बाहर नहीं जाऊँगा, आज इस कमरे के बाहर नहीं जाऊँगा। बाहर की समस्त वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष का त्याग कर रहा है। ऐसे वह देशव्रत के माध्यम से अपनी मर्यादा सीमा घटाता जा रहा है। पुनः अनर्थदण्ड का त्याग कर दिया, सबके प्रति अपध्यान का त्याग, दुःश्रुति का त्याग, पापोपदेश का त्याग, मौन, अपने आप में संतुष्ट रहूँगा इन तीन गुणव्रतों का पालन करने से आत्मा के गुणों में वृद्धि होती जाती है। फिर चार शिक्षाव्रतों का पालन करता है, मैं सामायिक करूँगा, प्रोषधोपवास करूँगा, क्योंकि उपवास ही आत्मा की उत्कृष्ट औषधि है। अतिथिसंविभाग अर्थात् वैय्यावृत्ति करूँगा और अंत में ये ध्यान रखूँगा कि ये शरीर मेरा नहीं है, इससे ममत्व भाव का त्याग, देह व कषायों को कृश करना अर्थात् सल्लेखना। इस प्रकार ये सात शीलव्रत कहलाते हैं। इनके माध्यम से भी आत्मा की शक्ति जाग्रत होती है।

शील का अगला अर्थ कहा जा सकता है-'अपना स्वभाव', अपनी प्रकृति। ये सात शीलव्रत हैं ये ब्रह्मचर्य में स्थिर करने का कारण हैं और ब्रह्मचर्य का पालन करना अपने स्वभाव में लीन होने का कारण है, बिना कारण के कार्य नहीं होता। सप्तशील का पालन करने से अपना शील, अपना धर्म, व्रत पालित होता है। उसका पालन करने से आत्म स्वभाव में रमण करने की पात्रता प्राप्त होती है।

महानुभाव ! इस शीलव्रत में 'व्रत' का आशय क्या है। व्रत कहते हैं 'विरक्ति'। व्रत का अर्थ त्याग नहीं होता। व्रत का अर्थ होता है हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँचों पापों से विरक्ति हो जाना, तो यह विरक्तिव्रत होता है। शीलव्रत क्या है ? नि:शील से विरक्ति अपने स्वभाव में प्रवृत्ति। हमारे जितने भी स्वभाव हैं चाहे क्षमा करना हमारा स्वभाव है, विनम्र रहना स्वभाव है, सरलता स्वभाव है, शुचिता स्वभाव है, सत्य स्वभाव है जितने भी स्वभाव हमारे हैं उन सभी स्वभावों में लीन रहना। स्वभावों की मर्यादा का जो रेखांकन किया है उसके बाहर नहीं जाना। जो कोई भी अपनी सीमा का उल्लंघन करता है, अपने द्वारा खींची गयी रेखा को लांघ जाता है ऐसा व्यक्ति नियम से दु:ख और संकटों को प्राप्त होता है। इसलिये शीलव्रत का आशय दिया अपनी मर्यादा में रहना, अपनी सीमा में रहना, अपने द्व ारा ग्रहण किये हुये व्रतों के बंधन में रहना।

जैसे पशु-पक्षियों को तो सांकल आदि से बाँधकर रखा जाता है, मनुष्यों को भी एक नियम में बाँधकर रखा जाता है, भारतीय संविधान में भी भारतीय व्यक्तियों को बाँधने के लिये कानून बनाया गया है और व्यवहार धर्म का पालन करने वाले साधुओं के लिये भी नियम है, आचार संहिता है किन्तु आत्मध्यान में लीन रहने वाले योगी के लिये, बाहर से कोई नियम नहीं बनाये जाते। वह अपने द्वारा ही अपनी मर्यादा का निर्धारण करता है और उसके अंदर रहता है। वह अपना स्वयं संकल्प करता है व उसका कभी उल्लंघन नहीं करता। आत्मानुशासन करता है। जो आत्मा पर अपना अनुशासन रखता है उसके ऊपर दूसरों को अनुशासन करने की आवश्यकता नहीं रहती।

महानुभाव ! उन शीलव्रतों का निरतिचार पालन हो, उनमें कभी कोई दोष नहीं लगे, दोष लगने का आशय है मार्ग में चलते हुए ठोकर लग जाना, मार्ग में गिर पड़ना। दोष लगने का आशय है मार्ग में फिसल जाना, इसलिये चलने वाला बहुत संभालकर व फूँक-फूँक

कर कदम बढ़ाता है ताकि मैं गिर न जाऊँ, आड़ा-तिरछा-उल्टा न हो जाऊँ क्योंकि जो कदम उसके हैं उन कदमों को कोई अपना आदर्श मानकर के पीछे चलना चाहता है। हे भव्य पुरुष ! तू जरा संभलकर के चल, तेरे कदमों को आदर्श मान करके तेरे पीछे चलने वाले व्यक्ति आतुर हैं यदि तेरे कदम गलत पड़ेंगे या मिट जायेंगे तो उन कदमों के चिह्नों को कोई खोजेगा नहीं, इसलिए अनतिचार रूप से अपनी मर्यादाओं का, अपने संकल्पों का, प्रतिज्ञाओं का पालन करो। इस शीलव्रतेष्वनतीचार भावना का गृहस्थ भी पालन कर सकते हैं।

कितने उदाहरण हैं कि कितने ही श्रावकों ने इस शीलव्रत का पालन किया, ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन किया, ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन किया, ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन किया और इतना ही नहीं ब्रह्मचर्य धर्म का भी पालन किया और फिर ब्रह्मस्वरूपी आत्मा में लीन हो गये। व्यवहार ब्रह्मचर्य का पालन करने में कितनी प्रतिकूलताओं का सामना हुआ। और सही मायने में पूछा जाये तो व्यवहार ब्रह्मचर्य को पालन करने में ही उपसर्ग आते हैं निश्चय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से कौन रोक सकता है। व्यवहार ब्रह्मचर्य का पालन करने में उल्लंघन होने का डर रहता है निश्चय में लीन रहने वालों को कोई डर नहीं रहता है।

किसी एक राजा जिसके बारे में यह सुन रखा था कि वह राजा स्वदार संतोष व्रत का पालन करता है। उसे डिगाने के लिये शत्रुपक्ष के राजा ने एक वेश्या को भेजा। वह वेश्या जहाँ से राजा नित्य निकलता था उसी मार्ग में छिपकर खड़ी हो जाती है और जैसे ही राजा को देखती है तो रोने लगती है। रोने की आवाज सुनकर राजा उसके पास आया देखा कोई स्त्री रो रही है। पूछा कौन ? बोली मैं एक अबला हूँ आपके देश की नारी हूँ आपसे वरदान चाहती हूँ। राजा ने कहा क्या चाहती हो ? वह बोली-राजन् यदि आप उसे पूर्ण करें तो मैं अपनी याचना आपके समक्ष रखूँ। राजा ने कहा-यदि मैं समर्थ होऊँगा तो तुम्हारी भावना को अवश्य पूर्ण करूँगा।

वह स्त्री फटे-पुराने-चीथड़े से वस्त्रों को पहने बैठी थी किन्तु वेश्या थी। यौवन की मादकता उस पर सवार थी। वह सामने आयी और अपने हाव-भाव प्रकट करने लगी, कहती है-बस मुझे आप जैसा बेटा चाहिये। राजा उसके भाव समझ गया किन्तु वह राजा भी बहुत होशियार था, निष्णात था, अपने घोड़े से नीचे उतरता है उसके पैर पकड़ता है, कहता है माँ तुम मुझे दूध पिला दो मैं तुम्हारा बेटा हूँ। उस युवती की आँखों में आँसू आ गये धन्य है ऐसे राजा के लिये, मैंने जिसके चित्त को चुराना चाहा, जिसे शील से च्युत करना चाहा किन्तु धन्य है इसकी गंभीरता उदारता। किस प्रकार इसने मुझे सही रास्ते पर ला दिया। मैं जो अभी तक भटकी थी दूसरों को तो न भटका पायी किन्तु इसने मुझे सही मार्ग पर लगा दिया, कहते हैं उस नारी ने जीवन पर्यंत के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का नियम ले लिया, उस राजा की सेवा की।

वृषभदास सेठ का पुत्र सेठ सुदर्शन जिसके एक पत्नी व्रत था। उसके रूप सौन्दर्य को देखकर कपिल ब्राह्मण की पत्नी कपिला सुदर्शन पर आसक्त हो गई। एक बार जब कपिल ब्राह्मण घर में नहीं था तब उसने छल से सुदर्शन को बुलवाकर अपनी कुभावना उसके सामने प्रकट की। सुदर्शन ने यह कहकर कि मैं पुरुषार्थ से रहित (नपुंसक) हूँ, अपने शील की रक्षा की परन्तु कुछ समय पश्चात् जब कपिला को उसकी यथार्थता का पता चला तब उसने धात्रीवाहन राजा की रानी अभयमती को उसकी ओर आसक्त कर दिया। जब यह बात रानी की दासी को पता चली तो उसने रानी से सेठ सुदर्शन के एक पत्नी व्रत के संबंध में कहा। किन्तु रानी अभयमति ने कहा यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो तो शीघ्र सेठ सुदर्शन को मेरे पास लेकर आओ।

एक दिवस सेठ सुदर्शन अष्टमी का उपवास करके सूर्यास्त हो जाने पर रात्रि के समय श्मशान में प्रतिमायोग से स्थित था। तभी

पण्डिता धाय उसे वहाँ से उठा महलों में अभयमती के पास ले गई। अभयमती के खूब प्रयास के पश्चात् भी जब सुदर्शन विचलित नही हुए तब रानी ने उसे पुनः श्मशान में छोड़कर आने को कहा। किंतु प्रातः हो चुकी थी अब उसे ले जाना संभव नहीं था अतः रानी ने अपने शरीर को क्षत-विक्षत कर सारा दोष सुदर्शन पर लगा दिया। राजा ने सेठ सुदर्शन को मृत्यु दंड सुना दिया। उसे श्मशान ले जाया गया और जैसे ही सिर काटने के लिए तलवार का वार किया तो वह फूलों की माला हो गई। उसके शीलव्रत से प्रभावित हो वहाँ के यक्ष ने सेठ सुदर्शन की पूजा की। सेठ सुदर्शन ने दीक्षा को स्वीकार किया व पटना से मोक्ष प्राप्त किया।

महाराज धर्मसेन एवं रानी गुणवती का पुत्र वरांग कुमार जिसने वरदत्त केवली के समक्ष पाँच अणुव्रतों को स्वीकार किया। एक बार एक यक्षी उसके स्वदार संतोष व्रत की परीक्षा लेने आई। अनेक बातें एवं चेष्टाओं के द्वारा उसे विचलित करने का प्रयास किया किंतु जब कुमार वरांग को अपने व्रत में अडिग पाया तब अपने असली स्वरूप में आकर कुमार वरांग की भूरि-भूरि प्रशंसा कर अन्तर्धान हो गई।

एक बार कुमार वरांग पर मनोरमा नाम की राजपुत्री मोहित हो गई। मनोरमा ने अपनी सखी के माध्यम से कुमार के पास अपनी भावना पहुँचाई। कुमार ने स्पष्ट शब्दों मे कह दिया मैंने वरदत्त केवली से स्वदार संतोष व्रत दीक्षा ली है। जब दूती फिर भी न मानी तब कुमार वरांग ने कहा अधिक से अधिक मैं इतना कह सकता हूँ कि यदि राजकुमारी के पिता देवसेन आज्ञा दें तो उनकी पुत्री को धार्मिक विधि-विधान के साथ ग्रहण कर सकता हूँ। महानुभाव ! इस संसार में जो शुद्ध आत्मा शीलव्रत को पालन करने वाले हुए हैं तथा जो किन्हीं भी परिस्थितियों में पड़कर धारण किए गये व्रतों से नहीं डिगे वे समस्त संसार में पूज्य अवस्था को प्राप्त हुए हैं।

चाहे श्रीरामचन्द्र जिन्होंने चन्द्रनखा के आग्रह करने के पश्चात् भी उसे ठुकराकर अपने शील धर्म की मर्यादा का पालन किया। अंतिम केवली जम्बूस्वामी जिन्होंने ब्रह्मचर्य का महान् उदाहरण प्रस्तुत किया विवाहोपरांत भी विषय सुखों से अलिप्त रह विवाह के अगले दिन ही दैगम्बरी दीक्षा स्वीकार की एवं मोक्ष प्राप्त किया।

महानुभाव ! शीलव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में समर्थ हो जाता है। दर्शनविशुद्धि, विनय सम्पन्नता भावना की तरह से शीलव्रत का अनतिचार पालन करना भी उस तीर्थंकर प्रकृति के बंध में निमित्त कारण है। हम भी अपने शीलव्रत, ब्रह्मचर्य व्रत अन्यव्रतों का निर्दोष पालन करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें इसी में हमारी आत्मा का कल्याण निहित है। जब हमारा कल्याण होगा तब हम दूसरों का कल्याण करने में भी निमित्त बन सकते हैं। निमित्त हम बनें ऐसी हम भावना भाते हैं। इसी भावना के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः।

–सर्वार्थसिद्धि

अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करने के लिये क्रोधादिक का त्याग करना शील है। इन दोनों के पालन करने में निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रतेष्वनतिचार है।

व्रतशील निविष्टेषु भेदेषु निरवद्यता।
शीलव्रतानतीचारः प्रोक्तः सूक्तविदां वरैः॥३२२॥

–उत्तरपुराण, सर्ग–63

व्रत तथा शील से युक्त चारित्र के भेदों में निर्दोषता रखना–अतिचार नहीं लगाना शास्त्र के उत्तमज्ञाता पुरुषों के द्वारा शीलव्रतानतीचार नाम की भावना कही गई है।

मत्तेय-कुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित्प्रचण्ड मृगराज वधेपि दक्षाः॥
किन्तु ब्रवीम वलिनां पुरतः प्रसह्यः।
कंदर्प दर्प दलने विरला मनुष्यः॥

–भर्तृहरि

इस संसार में ऐसे शूर हैं, जो मत्त हाथियों के कुंभस्थल को दलन करने में समर्थ हैं। कितने ही शूरवीर ऐसे हैं जो मृगराज अर्थात् सिंह का वध करने में दक्ष हैं, किन्तु मैं भर्तृहरि उन बली व्यक्तियों से कहता हूँ कि कामदेव का दलन करने वाले मनुष्य विरले होते हैं। जिसने कंदर्प के दर्प का दलन कर दिया, उसने अपना संसार मिटा दिया।

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किंचिदसाध्यं त्रैलोके शीलवतां भवेत्॥

शील के द्वारा तीन लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है, इसमें कोई संशय नहीं। शीलवानों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है।

निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः।

–भावपाहुड टीका

शील तथा व्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति करना शील–व्रतेष्वनतिचार भावना है।

शीलव्रतरक्षायां कायमनोवचनवृत्तिरनवद्या।
वेद्यो मार्गोद्युक्तैः स शुद्धः शीलव्रतेष्वनतिचारः॥१३४॥

–हरिवंशपुराण, सर्ग–34

शीलव्रतों की रक्षा में मन, वचन और काय की जो निर्दोष प्रवृत्ति है उसे मार्ग में उद्युक्त पुरुषों को शुद्ध शीलव्रतेष्वनतीचार नामकी भावना जाननी चाहिए।

अहिंसादिषु व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसां शीलव्रतेष्वनतिचार इति कथ्यते।

–तत्त्वार्थवार्तिकम्, आ. अकलंकदेव स्वामी

अहिंसा आदि व्रत तथा उनके परिपालन के लिए क्रोधवर्जन आदि शीलों में काय, वचन और मन की निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है।

शील व्रतस्य निर्दोषं निरतिचार–पालनम्।
भावना शील–संप्राप्तेः तीर्थंकरस्य कारणम्॥

शील की सम्प्राप्ति के लिये, शील व्रत का निर्दोष निरतिचार पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार भावना तीर्थंकर पद की कारण है।

४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत सोलह कारण भावनाओं के बारे में चर्चा कर रहे थे। दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रत का अनतिचार पालन करना ये सब तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण हैं इसी तरह से अभीक्ष्णज्ञानोपयोग यह भावना भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य कारण है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग क्या है ? उसकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? अभीक्ष्ण यानि निरंतर जिसमें कोई विग्रह न हो, कोई विराम नहीं हो, अविरल। वह ज्ञान की धारा अविरल चलती रहे। क्यों ? क्योंकि चेतना का लक्षण उपयोगमय है। चेतना के दो लक्षण हैं ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग निर्विकल्प होता है किन्तु ज्ञानोपयोग सविकल्प होता है। दर्शनोपयोग से आत्मा की हानि नहीं है किन्तु ज्ञानोपयोग यदि कुज्ञानोपयोग हो गया तो आत्मा की हानि हो सकती है।

आत्मा का उपयोग कैसे करें जिससे आत्मा में विकार नहीं आयें, जिससे चित्तपरिणति दूषित न हो जिससे चित्त में राग द्वेष की गंदगी न जमे, चित्त निर्मल बना रहे उसका एक ही उपाय है ज्ञान की धारा निरन्तर बहती रहे। जैसे यदि कोयले पर राख जम रही है तो उस पर फूँक मारते रहो तो राख जमेगी नहीं, रत्नों पर धूल जम रही है तो कपड़े से परिमार्जन करते रहो तो रत्न चमकते रहेंगे। योगी के चित्त पर धूल जम जाती है तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि के माध्यम से शुद्ध करता रहता है उसी प्रकार हमारी आत्मा की परिणति यदि दूषित होने लगती है तो पुनः ज्ञान का मुहुर-मुहुर संस्कार आत्मा में डाला जाता है। आत्मा किसी और अन्य कार्य से संतुष्ट नहीं होती, अन्य किसी से आत्मा को पूर्ण नहीं किया जा सकता।

आचार्य भगवन् श्री कुन्द-कुन्द स्वामी ने समयसार ग्रंथ में लिखा है-

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२०६॥

आत्मा नित्य ही ज्ञान में रतिभाव कर सकती है, अन्य किसी वस्तु के प्रति जो रतिभाव होता है वह शाश्वत नहीं है। आज जिस वस्तु के प्रति रति है कल उसके प्रति विरति हो जाती है। आज जिस व्यक्ति के प्रति अनुराग है कल उसी के प्रति विराग हो जाता है। संसार की कोई भी वस्तु हो चाहे छोटी या बड़ी, संसार की यह प्रवृत्ति है मानव जाति का ही नहीं प्रत्येक जीव मात्र का ऐसा स्वभाव बन गया है कि नूतन-नूतन के प्रति राग होता चला जाता है। नवीन-नवीन पर्याय के प्रति राग होता चला जाता है। राग की भावना बदलती रहती है। एक के प्रति राग में व्यक्ति जी ही नहीं सकता, उसे नव-नव पर्याय चाहिये पुरानेपन के प्रति उसे उदासीनता होने लगती है।

ज्ञानधारा में नित नयापन होता है। नदी में बहती हुयी धारा की तरह पानी वही है किन्तु वह पानी ज्यों-ज्यों लहर और तरंगों के माध्यम से उठता है गिरता है तो वह धारा नव-नव दिखाई देती है, नव-नव पर्याय दिखाई देती हैं। उस नव-नव ज्ञान की धारा से नव-नव वैराग्य की सम्प्राप्ति होती है। ज्ञान की धारा चित्त को प्रक्षालित करती है, वह ज्ञान की धारा सम्यक्त्व को निर्मल बनाती है स्थिर बनाती है, वह ज्ञान की धारा मोह पंक को प्रक्षालित करने में समर्थ होती है, वह ज्ञान की धारा चारित्र को भी निरतिचार निर्दोष बनाने में समर्थ होती है। ज्ञान स्वयं में बहुत मजबूत है, ज्ञान आत्मा का वह गुण है जिसके सहारे से आत्मा जीती है। यदि आत्मा में से ज्ञान को निकाल दिया जाये तो समझो कुछ बचेगा ही नहीं।

जैसे देह में से प्राण निकाल दो तो क्या बचेगा? कुछ नहीं, वैसे ही आत्मा में से ज्ञान निकाल दिया जाये तो कुछ नहीं बचेगा। जैसे दूध में से घी निकाल दो तो क्या बचेगा ? मट्ठा, आँख में से ज्योति को निकाल दो तो क्या बचेगा? अंधापन, ऐसे ही यदि चेतना में से ज्ञान गुण को निकाल दिया जाये तो चेतन, अचेतन जैसी हो जायेगी। इसलिये ज्ञान की आवश्यकता है।

महानुभाव ! ज्ञान संतुष्टि का भी कारण है, ज्ञान रति का भी कारण है, ज्ञान के माध्यम से ऐसा रति भाव होता है जिसके माध्यम से कर्मों का आश्रव भी नहीं होता, कर्मों का बंध भी नहीं होता, ज्ञान में रति करना अपनी आत्मा में रति करना है। ज्ञान में लीनता अपनी आत्मा में लीनता है इसलिये आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने कहा 'एदम्हि रदो णिच्चं' नित्य ही ज्ञान में रति करो, प्रीति करो। यदि तुझे किसी से लगाव करना है, यदि तू किसी को चाहता है तो ज्ञान को चाह। ज्ञान की चाहत तुझे संसार सागर से पार कर देगी, ज्ञान की चाहत तेरे मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का नाश कर देगी, ज्ञान की चाहत तेरे कर्मों को नष्ट करने में अस्त्र का काम करेगी।

'संतुट्ठो होहि णिचमेदम्हि' नित्य ही ज्ञान में संतुष्ट होना चाहिये क्योंकि संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसे आत्मा में डालकर के आत्मा को पूर्ण कर दिया जाये। जिस वस्तु को प्राप्त करके आज तुम संतुष्ट होते हो कल उसी वस्तु को प्राप्त करके मन में विकल्प आने लगते हैं। जिस वस्तु को देखकर खेदखिन्न होते हैं तो कभी उसी वस्तु को देखकर आनंद की अनुभूति भी होती है किन्तु ज्ञान एक ऐसी चीज है जिसके माध्यम से सबको आनंद आता है क्योंकि ज्ञान आनंद का कारण है। जैसे सघन मेघ बारिश का कारण होते हैं वैसे ही ज्ञान आनंद का कारण है।

ज्ञान के माध्यम से मोहनीय कर्म का हनन किया जाता है। सम्यग्ज्ञान रूपी अस्त्र के बिना कोई भी व्यक्ति मोहनीय कर्म का हनन करने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिये ज्ञान सुख का कारण है ज्ञान के समान दूसरा कोई सुख का कारण है ही नहीं। तो ज्ञान के माध्यम से संतुष्टि मिलती है अन्य वस्तुयें तो प्राप्त होती हैं नष्ट हो जाती हैं, प्राप्ति में आनंद तो कभी वियोग में विषाद होता है किन्तु चाहे बालक हो, युवा हो किशोर हो या वृद्ध हो ज्ञान की चार बात सुनाओ तो उसका मन रंजायमान हो जाता है। तो ज्ञान संतुष्टि का कारण है।

ज्ञानामृत एक ऐसा अमृत है जिसका पान करके कभी क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं सताती। एक विद्वान् हुये जिनका नाम वाचस्पति था। वे बीस वर्ष तक एक दार्शनिक व्याख्या-ग्रन्थ लिखते रहे उन्हें घर में उपस्थित पत्नी का पता भी नहीं चला। 20 वर्ष बाद ग्रंथ पूर्ण होने पर उन्हें याद आया मेरी पत्नी ने 20 वर्ष तक साध्वी की तरह जीवन बिताया और ग्रन्थ लेखन में मुझे निराकुलता प्रदान की। उन्होंने पत्नी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुये उस ग्रंथ का नाम 'भामती' रखा जो उनकी उस साध्वी पत्नी का नाम था। ज्ञानाराधना में डूबे लोग भोजन का स्वाद भूल जाते हैं, दिन-रात का भान भूल जाते हैं।

पं. टोडरमल जी जब ग्रंथ लिख रहे थे तो वे भोजन का स्वाद भी भूल गये थे, जब उनका ग्रंथ पूर्ण हुआ और वे भोजन करने बैठे तो माँ से कहते हैं-माँ ! आज भोजन में नमक नहीं डाला, तो माँ बोली-बेटा ! लगता है आज तुम्हारा ग्रंथ पूरा हो गया। मैं तो पिछले छः माह से नमक नहीं डाल रही थी, किन्तु तू ग्रंथ लिखने में इतना तल्लीन था कि भोजन का स्वाद ही भूल गया।

कहते हैं देवों के कंठ से अमृत निःसृत होता है उन्हें जैसे ही क्षुधा की वेदना होती है, जैसे ही क्षुधा वेदनीय का उदय होता है वैसे ही उनके कंठ से अमृत निःसृत होने लगता है। जिस देव की जितनी आयु है उतने हजार वर्ष में उन्हें कंठ से अमृत झराना पड़ता है क्षुधा की वेदना होती है किन्तु जिस योगी के अंतरंग में एक बार ज्ञानामृत की धारा बह गयी तो पुनः उसे क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं होती। क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हुए एक बार आत्मा के आनंद का अनुभव कर लिया तो बस अब वह तृप्त हो गया अरिहन्त बन गया, सिद्ध बन गया अब उसे शब्द ज्ञान की बार-बार आवश्यकता नहीं पड़ेगी। तो ज्ञान ही संतुष्टि का कारण है, ज्ञान ही प्रीति का कारण है और ज्ञान ही तृप्ति का कारण है।

संसार में व्यक्ति इन तीन के लिये भटकता है वाहन, भोजन, शयन और इनसे संतुष्ट होना चाहता है किन्तु जिससे प्रेम करता है वही दगा देता है ये सब संतुष्टि का कारण नहीं है। अतः ज्ञान से ही संतुष्टि होती है।

तो महानुभाव ! सम्यग्ज्ञान ही, आत्मज्ञान ही, तत्त्वज्ञान ही, निश्चय ज्ञान ही आत्मा के लिये प्रीति व संतुष्टि का कारण है। आचार्य भगवन् श्री कुलभद्र स्वामी जी कहते हैं-

ज्ञान नाम महारत्न यन्न प्राप्त कदाचन।
संसारे भ्रमता भीमे नाना दुःख विधायिने॥

हे प्राणी ! संसार में सबसे बड़ा रत्न तो ज्ञान रत्न है अन्य वस्तुओं को रत्न की उपमा देना उचित सा नहीं लगता है। इन काँच के खण्डों को रत्नों की उपमा दे रहे हो **''मूढे पाषाण खण्डेषु रत्न संज्ञा विधीयते''** अरे ! मूर्ख व्यक्ति ही पाषाण के टुकड़ों को रत्नों की संज्ञा देते हैं। वास्तव में रत्न तो तीन हैं सम्यग्दर्शन- सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र। अथवा तीन रत्नों के कारण जिनेन्द्र देव, निर्ग्रंथ गुरु और जिनवाणी/जिनधर्म। इन रत्नों को प्राप्त करके प्राणी उन पाषाण खण्डों को प्राप्त करने की भावना नहीं रखता। 'यन्न प्राप्त कदाचन' ज्ञानरूपी रत्न को जो व्यक्ति प्राप्त नहीं करता है ''संसारे भ्रमता भीमे नानादुःख विधायिने'' वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है संसार के दुःखों को भोगता है, दुर्गति को सहन करता है इसलिये उस ज्ञान को प्राप्त करने की निरंतर कोशिश करना चाहिये।

एक बार श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी के फोड़ा हो गया, जिसका ऑपरेशन करना जरूरी थी। डॉक्टरों ने कहा कि बिना बेहोश किये ऑपरेशन संभव नहीं है, वर्णी जी बोले-मैं बेहोश होकर ऑपरेशन नहीं करवाऊँगा क्योंकि यदि ऑपरेशन करते समय ही मेरे प्राण निकल गये तो मैं अंत समय में अपने भगवान् का नाम नहीं ले पाऊँगा।

आप चिन्ता न करें जब मैं 'समयसार जी' का स्वाध्याय करूँगा तब आप ऑपरेशन कर लेना। वे समयसार ग्रंथ का स्वाध्याय करने लगे और डा. ने ऑपरेशन शुरू कर दिया। जब उनका स्वाध्याय पूरा हो गया, तो वे बोले अरे! क्या कर रहे हो? डॉक्टर बोले-कुछ नहीं कर रहा हूँ ऑपरेशन तो पूरा हो चुका है, अब तो आखिरी टाँका लगा रहा हूँ महानुभाव ! इस संसार में सम्यक्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। निरंतर ज्ञान में ही उपयोग रहे ऐसी भावना और कोशिश रहती है ज्ञानी पुरुष की। जो बार-बार प्रयास करता है उसे सफलता अवश्य मिलती है।

महानुभाव ! ऐसा असंभव कुछ भी नहीं है जिसे आप प्राप्त न कर सकें। आप चाहें तो मुक्त भी हो सकते हैं, आप चाहें तो संसार में कर्मों में सुसुप्त भी हो सकते हैं। जो चाहें वह कर सकते हैं। ज्ञान को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ तो करना पड़ेगा।

देखो-तुम्हारे जीवन में अज्ञान का कोई पर्दा इतना मोटा नहीं है जिसे आप नष्ट न कर सको, आपने ही तो वह पर्दा डाला है। जो बेड़ियाँ आपने अपने हाथों से डाली हैं वह तोड़ सकते हैं, अपनी शक्ति को भूलते क्यों हो। निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करो। एक-एक पानी की कोमल बूँद पाषाण की शिला पर जब गिरती है तो उसमें छेद कर देती है किन्तु निरन्तर गिरती रहे तब।

करत-करत अभ्यास के जड़ मति होय सुज्ञान।
रस्सी आवत-जात है सिल पर पड़त निशान॥

कुयें के घाट पर भी रस्सी के माध्यम से वह शिला कट जाती है किन्तु कब जब वह रस्सी निरंतर घिसती रहे ऐसे ही हम भी निरन्तर प्रयास करते रहें। अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग अर्थात् निरन्तर ज्ञान में उपयोग का रहना। जो निरन्तर ज्ञान की धारा में रहता है उसकी चेतना पर मोह की पंक टिक नहीं पाती। जो कोयला निरंतर हवा में

रहता है उस पर राख जम नहीं पाती। हमें भी बिना अंतर डाले ज्ञान का प्रयास करना है यदि अंतर डाल दिया तो उतने ही अंतर में मोह की पंक जम जायेगी।

आप जानते हैं जब खूँटा गाढा जाता है तो वह सिर्फ एक चोट से नहीं गढ़ता। जब चोट पर चोट देते जाते हैं तब कई चोटों से वह खूँटा गढ जाता है। ऐसे ही एक बार नहीं बार-बार पढ़ना चाहिये। 1 ग्रास को कई बार चबाते हैं तो एन्जाइम्स बनते हैं, एंजाइम्स भोजन को पचाने, माँस पेशियों के बनने और शरीर में विषाक्त पदार्थ खत्म करने के साथ हजारों कामों को करने के लिए आवश्यक होते हैं। यदि ग्रन्थियों से निकलने वाले हार्मोन्स स्रवित नहीं होंगे तो बीमार पड़ जाओगे। भोजन को चबा-चबाकर करना चाहिए। एक ग्रास को 32 बार चबाना चाहिये तब वह ग्रास औषधि बन जाता है, वह पाचक तत्त्व देने वाला होता है, जिससे शरीर में शक्ति, तेज, ओज, लावण्यता आती है व चित्त प्रसन्न होता है। ऐसे ही हमें ज्ञान के एक-एक शब्द को बार-बार चर्वण करना है तब उसमें से स्वाद निकलेगा, तब उसकी शक्ति प्राप्त होगी।

विद्या के विषय में किसी ने बहुत मार्मिक सूक्ति लिखते हुए कहा है-

''विद्या सौ बार के अभ्यास से आती है और सहस्त्रबार किये गये अभ्यास में स्थिर होती है। यदि उसे सहस्त्रबार सहस्त्र से गुणित किया जा सके तो वह इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी साथ नहीं छोड़ती'' सतत् अभ्यास का नाम ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना, यह ज्ञान सूर्य है यदि एक मिनट के लिये सूर्य आ गया और चला गया इससे तुम्हारी सर्दी दूर हो जायेगी क्या ? जब सूर्य 2-4-6 घंटे स्थायी बना रहता है, उस सर्दी की धूप में व्यक्ति बैठ जाते हैं तो सर्दी दूर हो जाती है ऐसे ही ज्ञान सूर्य

है उसके रहते अज्ञान रूपी अंधकार टिक नहीं पाता, वह ज्ञान सूर्य निरन्तर बना रहे। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग यही कह रहा है कि हमारा उपयोग लगातार ज्ञान में लगा रहे। ज्ञान ही ऐसी चीज है जिसे शब्दों की पोशाक पहना करके उस ज्ञान में अपने उपयोग को लगाया जा सकता है।

उपयोग ही आत्मा है। जीव का लक्षण उपयोग है, **'उपयोगो लक्षणं'** उस उपयोग को आत्मा में लगा दो जो कि आत्मा का स्वभाव है अन्य किसी में लगाने से काम नहीं चलेगा। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना का अर्थ है कि जिस व्यक्ति ने पूर्व में निरंतर ज्ञान की भावना भायी है ऐसा व्यक्ति ही केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ध्यान रखो दही में से मक्खन ऐसे ही नहीं निकल आता, जब मथानी से मथा जाता है तब मक्खन निकलता है ऐसे ही चिंतन की धारा, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की धारा निकलती जाती है तब उन शब्दों में से भी रस निकलकर के आ जाता है।

गन्ने के दूर रखे रहने से मिठास मुँह में नहीं आती जब उस गन्ने को चूसते हैं, चबाने पर ही उसका रस निकलकर आता है। ऐसे ही शब्दों को हम अपने अनुभव की चरखी से मसल-मसल कर उसका रस निकालते हैं तो भाव ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना की धारा वास्तव में तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य रूप से कारण है। जो भी भव्य जीव दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं के साथ निरन्तर ज्ञान की धारा में अवगाहन करते हैं वे तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में समर्थ होते हैं। आप सभी इसी ज्ञान धारा में अवगाहन करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें मैं आपके प्रति ऐसी भावना भाता हूँ। इसी भावना के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

।।श्री अजितनाथ भगवान् की जय।।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना
(अर्थ सहित श्लोक)

१. जीवादि पदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्ण ाज्ञानोपयोगः।

(सर्वार्थसिद्धि, आ. पूज्यपादस्वामी)

जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

२. मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषयं प्रत्यक्षप. रोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यव-हितफलं हिताहिता- नुभयप्राप्ति परिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्, तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः।

-राजवार्तिक आ. अकलंकदेव स्वामी

जीवादि पदार्थों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानने वाले मति आदि पाँच ज्ञान हैं। अज्ञाननिवृत्ति इसका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति अहितपरिहार और उपेक्षा व्यवहित यह फल है। इस ज्ञान की भावना में सदा तत्पर रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

३. अभिक्खणमभिक्खणं णाम बहुबारमिदि भणिदं होदि। णाण ोवजोगो त्ति भावसुदं दव्वसुदं वावेक्खदे। तेसु मुहुम्मुहुजुत्तदाए तित्थयरणामकम्मं बज्झइ।

-धवला जी, पु. 8

अभीक्ष्ण का अर्थ बहुत बार है। ज्ञानोपयोग से भावश्रुत अथवा द्रव्यश्रुत की अपेक्षा है, उन (द्रव्य व भावश्रुत) में बार-बार उद्यत रहने से तीर्थंकर नामकर्म बंधता है।

ज्ञानोपयोगाऽभीक्ष्णोऽसौ या नित्यश्रुत भावना।

-उत्तरपुराण, सर्ग-63/323

निरंतर शास्त्र की भावना रखना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

४. अङ्गपूर्वाणि धीमान्सोऽभीक्ष्णमज्ञानहानये।
केवलाय पठत्येव सतां पाठयति स्फुटम्।।७७।।

–श्री पार्श्वनाथ चरित्र

बुद्धिमान् मुनिराज मात्र अज्ञान की हानि के लिए निरन्तर अङ्ग और पूर्वों का स्वयं पाठ करते हैं और दूसरों को पाठ कराते हैं अर्थात् वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना का चिन्तवन करते हैं।

५. सन्ततं ज्ञानस्योपयोगोऽभ्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः।

–भावपाहुड टीका

निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है।

अज्ञाननिवृत्तिफले प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणज्ञाने।
नित्यमभियुक्ततोक्तस्तज्ज्ञैर्ज्ञानोपयोगस्तु।।१३५।।

–हरिवंशपुराण, सर्ग–34

अज्ञान की निवृत्तिरूप फल से युक्त तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों से सहित ज्ञान में निरन्तर उपयोग रखना सो अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है।

सदा ज्ञानामृतं पेयं सम्यग्व्रतस्य साधनम्।
भावनाऽभीक्ष्ण ज्ञानस्य तीर्थंकरस्य कारणम्।।

सदा ज्ञानामृत का पान करना चाहिये, यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना समीचीन व्रत अर्थात् सम्यक्चारित्र का साधन है तथा तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

५. संवेग भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के लिये जिन कारण ाों पर चर्चा कर रहे हैं दृष्टि की निर्मलता, विनय गुण से सम्पन्नता, अतिचारों से रहित शीलव्रतों का पालन, निरन्तर ज्ञानोपयोग की धारा में अवगाहन उसी के साथ आज जिस भावना पर चर्चा कर रहे हैं, वह है संवेग भावना।

संवेग शब्द का अर्थ है समीचीन वेग, समीचीन गति। जब गति समीचीन होती है तब मार्ग में मुश्किलें कम होती हैं, जब गति सम. ीचीन होती है तब विघ्न बाधायें अनुकूलता बनकर सामने आती हैं, समीचीन गति से ही मंजिल तक पहुँचने का विश्वास प्रकट होता है। उस समीचीन गति के ही साथ अनेक हमराहियों का साथ मिलता है। किन्तु जब गति में विषमता आ जाती है, जब गति वक्र रूप से होती है, जब गति अनेक उतार-चढ़ावों के साथ होती है, जब गति उद्वेग और आवेगों से युक्त होती है तब वह गति स्वयं के लिये व दूसरों के लिये संहारक बन जाती है। समीचीन गति उपकारक होती है, तो वक्र/मिथ्या गति संहारक होती है। संवेगी गति आत्म हितैषी होती है तो उद्वेगी गति आत्म घातक होती है।

जब कोई भी सरिता गिरि शिखर से गिरती है, वह गिरती हुयी नीचे समतल मैदान में बहती चली जाती है। अपने प्रियतम पारावार से मिलने के लिये वह आकुल व्याकुल होती हुयी, बलखाती हुयी, लहराती हुयी चली जाती है किन्तु फिर भी उसका वेग सम होता है। जब तक समवेग में रहती है तब तक हरियाली, खुशहाली को देती हुयी जाती है, वह वृद्धि को प्राप्त होती है, संवृद्धि को प्राप्त होती है। पर्वत से गिरने वाली नदी प्रारंभ में बहुत छोटी होती है किन्तु सागर तक पहुँचते-पहुँचते बहुत बड़ी बन जाती है। वह अपने साथ सबको मिलाकर के चलती है।

समीचीन वेग का यही अर्थ होता है जिस वेग में उद्‌वेग नहीं, आवेग नहीं आवेश नहीं समतल चली आ रही है अपने आप में अलमस्त, नाचती, लहराती चली आती है। किन्तु ज्यों ही उस सरिता की भृकुटि तन जाती है, ज्यों ही उस नदी का नीर अहंकार से उद्‌वेलित होने लगता है तब उसमें बाढ का रूप आ जाता है, वही नदी अब संहारक व विध्वंसक बन जाती है, हरियाली व खुशहाली देने वाली सरिता–प्राणनाशक बन जाती है। वह जल जीवन नहीं मृत्यु का प्रतीक माना जाता है। वह सरिता जो पहले वृक्षों को हरा–भरा करती जाती थी अब वह बाढ़ वृक्षों को समूल नष्ट करती चली जाती है। तो नदी में आने वाला वेग नदी के लिये भी घातक है क्योंकि उसके वेग से उसकी सुरक्षा करने वाले दोनों तट भी टूट जाते हैं। दोनों तटों के टूट जाने से बहुत जन संहार भी हो सकता है और वह नदी भी अपने अस्तित्व को नष्ट करके किसी मरुथल में लुप्त प्रायः सी हो जाती है।

महानुभाव ! इसी प्रकार जिस मानव के जीवन में संवेग नहीं है, जिसका जीवन उद्‌वेग और आवेगों से भरा हुआ है, जिसके जीवन में उतावलापन है, जिसके जीवन में आक्रोश है या एक दम खामोश हो गया है, ऐसा व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है। इसलिये संवेग अर्थात् समीचीन वेग के साथ चलो। चलने की मनाही नहीं है चलना तो जरूरी है बिना चले कभी मंजिल नहीं मिलती। चाहे अंदर में चलो चाहे बाहर में चलो मंजिल यदि अंदर में है तो अंदर चलो, मंजिल यदि बाहर है तो बाहर में चलो। अंदर की मंजिल को पाने के लिये बाहर से बैठना पड़ता है और अंदर में उतरना पड़ता है, बाहर की मंजिल को पाने के लिये अंदर को बैठाना पड़ता है और बाहर में दौड़ना पड़ता है। बाहर की मंजिल बाहर की दौड़ से प्राप्त होती है तो अंदर की मंजिल अंदर की दौड़ से प्राप्त होती है। बाहर की मंजिल पाने के लिए एकाग्र होकर बाहर दौड़ना

पड़ता है तो अंदर की मंजिल पाने के लिये बाहर सब छोड़कर के अंदर दौड़ना पड़ता है किन्तु दौड़ समीचीन हो। न चलने की मना है न दौड़ने की मना है। जिसकी जितनी क्षमता व पात्रता है उसी के अनुसार समीचीन रूप से चलना संवेग कहलाता है।

साइकिल की जितनी रफ्तार है उतनी रफ्तार में चले तो कोई हर्ज नहीं दुर्घटना होने की संभावना कम से कम होती है और यदि साइकिल को स्कूटर की रेस में दौड़ाया जाये तो दुर्घटना अधिक से अधिक बढ़ती चली जाती है। सबकी गति की एक सीमा है जिसने भी अपनी सीमा का उल्लंघन किया है, जो कोई भी आवेग और उद्वेग के साथ चलना प्रारम्भ करता है चाहे वह चींटी ही क्यों न हो जिसने अपनी शक्ति से ज्यादा किया है तो नि:संदेह वह पतन को प्राप्त होगा, दु:खों को-दुर्दशा को प्राप्त होगा। किन्तु यह अवस्था जिनके पास ज्ञान नहीं उनके साथ व्यतीत हो तब कोई हर्ज नहीं किन्तु मानव तो ज्ञानमूर्ति कहलाता है मानव में विशेषता ज्ञान की है और ज्ञान जिसके पास है वह अपनी गति को न संभाल पाये तो नि:संदेह मंजिल से भटक जायेगा।

ज्ञान गति को सम्यक् बनाने का काम करता है। इसलिये पहले अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना कही उसके बाद में संवेग भावना कही। बिना ज्ञान के संवेग भावना बन नहीं सकती पहले ज्ञान चाहिये। जिस व्यक्ति को ये ज्ञान है कि मुझे अपनी गति कहाँ बढ़ानी है, कहाँ घटानी है, कहाँ ब्रेक लगाने हैं, रास्ता कैसा है जैसा रास्ता होता है उसी के अनुसार अपने वाहन की गति कम ज्यादा करनी पड़ती है। और कहीं दुर्घटना होने की संभावना हो तो उस वाहन की गति में ब्रेक भी लगाने पड़ते हैं, रोकनी भी पड़ सकती है। ऐसे ही मानव को अपनी जीवन गति को देखना है कहाँ तेज चलना है, कहाँ ब्रेक लगाना है।

बाल्य अवस्था नये वाहन की तरह से है। बालक दौड़ता चला जाता है जीवन के बसंत ऐसे निकल जाते हैं स्वप्न की तरह से कब-आया कब चला गया पता नहीं चल पाता। यौवन अवस्था के दिन उससे भी कम समय का आभास कराते हैं फिर भी आभास कराते हैं सर्दी जाने वाली है गर्मी आने वाली है तो दिन थोड़े बड़े तो हो गये किन्तु न सर्दी का अहसास है न गर्मी का अहसास है यौवन की मौज-मस्ती में वह समय निकल जाता है। किन्तु प्रौढ अवस्था के दिन गर्मी के दिनों की तरह से लम्बे होते हैं जो थोड़ी मुश्किल से निकल पाते हैं और वृद्ध अवस्था का समय तो ऐसा लगता है जैसे की मूसलाधार वर्षा हो रही है, झोंपड़ी भी टूटी हुयी है पानी टप-टप टपक रहा है कितनी लम्बी रात है, कितना लम्बा दिन है मालूम नहीं चलता। सूर्य कई दिनों तक दिखाई नहीं दे रहा है वह बुढ़ापे की गाड़ी चल रही है बहुत धीमे-धीमे चल रही है उस समय बहुत धीरे-धीरे संभल कर चलना पड़ता है।

संवेग नि:संदेह समीचीन गति का प्रतीक है। जिस वेग पर सम्यक्त्व का अंकुश हो, जिस वेग पर विवेक का अंकुश हो ऐसा वेग जीवन में कभी खतरनाक नहीं होता किन्तु जिस वेग पर संयम, विवेक व सम्यक्त्व का अंकुश नहीं होता ऐसा वेगवान कोई भी वाहन हो आज नहीं तो कल दुर्घटना का शिकार बनेगा ही बनेगा। संवेग शब्द के बारे में कहा-

संवेग : परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्तः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिसु॥

धर्म व धर्म के फल में आत्मा के परम उत्साह को संवेग कहते हैं अथवा धार्मिक पुरुषों में अनुराग अथवा पंचपरमेष्ठी में प्रीति रखने को संवेग कहते हैं।

धर्म के प्रति हर्ष भावना होना-धर्म को देखकर आनंद आना, चित्त में इतना आनंद हो कि रोम-रोम पुलकित हो जाये। धर्म के फल को देखकर आनंद ही आनंद आये, धर्मात्मा को देखकर आनंद भावना आये तो समझो संवेग भावना है।

महानुभाव ! आपने वज्रदन्त चक्रवर्ती के विषय में सुना होगा जिनके पिता वज्रबाहु ने संसार-शरीर भोगों से विरक्त हो जिनमुद्रा को धारण कर मुक्ति को प्राप्त किया। वज्रबाहु ने अपना राज्य वज्रदन्त चक्रवर्ती के लिये दिया। वज्रदन्त चक्रवर्ती बड़ा ही धर्मात्मा, देव शास्त्र-गुरु के प्रति समर्पित, निष्ठावान् व सम्यग्दृष्टि राजा था। एक बार वह अपने राजदरबार में बैठे हुए थे कि अचानक एक वनपाल ने आकर महाराज को नवीन खिला हुआ कमल लाकर बड़े हर्ष के साथ अर्पित किया। वह कमल बड़ा ही सुन्दर था राजा ने उसे अपने हाथ में लिया और सूंघने लगे तभी उनकी दृष्टि उसके भीतर सुगन्ध के लोभी एक भ्रमर पर गई जो रात्रि में उसके भीतर ही अपने प्राण त्याग चुका था जैसे ही उन्होंने भौंरे को देखा वैसे ही वे भय से कम्पित हो गये विचार करने लगे कि एक इन्द्रिय के विषय में फँसकर इस भौंरे ने अपने प्राण तज दिये और मैं तो पंचेन्द्रिय के विषयों में फँसा हुआ हूँ फिर मेरी स्थिति क्या होगी?

उन्होंने कहा कि ऐसे विषयों की चाह को धिक्कार हो। ये विषय किंपाक फल के समान विषम हैं। प्रारंभ में तो अच्छे मालूम होते हैं परन्तु फल देते समय अनिष्ट फल देते हैं। प्राणियों का ये शरीर जो विषय भोगों का साधन है ये भी शरदऋतु के बादल के समान क्षण भर में विलीन हो जाने वाला है इसलिये ऐसे शरीर को भी धिक्कार हो। यह धन-धान्य सभी विभूति भी स्वप्न में प्राप्त हुई विभूति के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली है। ये शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, ध नसम्पदा, गृह, सवारी सभी कुछ इन्द्रजाल के समान अस्थिर है। यह यमराज संसारी प्राणियों के साथ सदा युद्ध करने को तैयार रहता है।

इस विषय सामग्री की तीन अवस्थायें हैं-अर्जन, भोग और वियोग यह जीव उक्त तीनों अवस्थाओं में ही दु:खी होता है। यह सांसारिक सुख, दुख उत्पन्न करने वाला है, धन विनाश से सहित है। संयोग के बाद वियोग अवश्य होता है ऐसा सोचकर चक्रवर्ती ने अन्त में सभी विषयों को नीरस मानकर उन्हें छोड़ने में ही सुख माना और अपने अमिततेज नाम के पुत्र को राज्य देना चाहा परन्तु अमिततेज ने कहा कि-हे देव! जब आप ही इस राज्य को छोड़ना चाहते हैं तब यह मुझे भी नहीं चाहिये, मुझे ये राज्यभार व्यर्थ मालूम होता है। हे पूज्य! मैं आपके साथ ही तपोवन को चलूँगा। वज्रदन्त चक्रवर्ती के सभी पुत्रों ने राज्य लेने से इंकार कर दिया बहुत समझाया कि अभी आपकी उम्र दीक्षा की नहीं आप अभी राज्य को सम्हालो लेकिन सबने कहा कि जो गति आपकी वही हमारी होगी। तब वज्रदन्त चक्रवर्ती ने अपने पुत्र अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक जो बहुत छोटी अवस्था का था उसे ही राज्य भार सौंप दिया तथा जिनके मन में संसार-शरीर-भोगों के प्रति विरक्ति व भय एक साथ उत्पन्न हुए थे ऐसे चक्रवर्ती ने यशोधर तीर्थंकर के शिष्य गुणधर मुनि के समीप जाकर दीक्षा को अंगीकार किया उनके साथ साठ हजार रानियों ने, बीस हजार राजाओं ने तथा एक हजार पुत्रों ने भी दीक्षा धारण की। महानुभाव! ये होती है संवेग भावना जिसमें संसार से विरक्ति और ध र्म के प्रति अनुरक्ति सहज ही दिखायी देती है जिसे वज्रदन्त चक्रवर्ती ने भाकर अपना कल्याण किया।

संवेग का अर्थ होता है धर्म के प्रति गाढ़ श्रद्धा हो जाना, तीव्रभा. क्त निष्ठा प्रकट हो जाना। इसके साथ-साथ पाप भीरुता, भवभीरुता, भोग भीरुता, देह भीरुता के साथ वह धर्म की शरण में आ जाता है। उनसे विरक्ति होती है तो धर्म से अनुरक्ति होती है। पाप से विरक्ति हुये बिना धर्म से अनुरक्ति हो नहीं सकती। दोनों एक साथ रह नहीं सकते, किन्तु दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पापों से विरक्त होना ही

धर्म के प्रति अनुरक्ति है। ज्यों-ज्यों जीवन में विषय कषायों के प्रति विरक्ति होती है त्यों-त्यों जीवन में आत्मा के प्रति अनुरक्ति होती है, अनुभूति, प्रीति व प्रतीति होती है।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी ने कहा है-

यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा-तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि॥
यथा-यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥

जैसे-जैसे संसार के सुलभ विषय नहीं रुचते हैं तैसे-तैसे आत्मा के प्रति अनुरक्ति होती है, यूँ कहें ज्यों-ज्यों हम धर्म के प्रति बढ़ते चले जाते हैं, त्यों-त्यों हमारा संसार-शरीर-भोगों के प्रति वैराग्य बढ़ता चला जाता है। संसार-शरीर व भोगों की आसक्ति ही दुःख का कारण है।

जंगल में एक नग्न दिगम्बर साधु विराजमान थे। गर्मी के दिन थे, वहाँ से एक राजा निकला, उन साधु को देख राजा वहीं बैठ गया, जब साधु का ध्यान टूटा तो राजा बोला-महाराज ! आप इस प्रकार की धूप से क्यों परेशान हो रहे हैं? आपके पास यहाँ खाने-पीने का प्रबंध नहीं है, आपको धूप भी लग रही होगी, कम से कम एक छतरी तो आपको दे ही दूँ जिससे आप ऊपर की धूप तो बचा ही सकेंगे। साधु बोले ऊपर की धूप तो बच जायेगी पर नीचे की तपन कैसे मिटेगी? राजा बोला-महाराज ! जूते बनवा दूँगा। साधु ने कहा-भाई नीचे से जूते ऊपर से छाता, शरीर नंगा यह भी तो ठीक नहीं है, राजा बोला-मैं वस्त्र बनवा दूँगा, साधु बोला-जब मैं वस्त्र पहनूँगा, वेशभूषा में रहूँगा तो फिर मुझे कौन पूछेगा? तब राजा बोला-महाराज ! तीन-चार गाँव यहाँ बसा दूँगा जिससे खूब खाना-पीना और आराम से रहना। साधु ने कहा-फिर खाना कौन बनायेगा राजा ने कहा-महा. राज ! आप चिंता न करें, दुःख न उठावें मैं आपकी शादी करा दूँगा, मोटर दूँगा सब इंतजाम हो जायेगा। साधु ने कहा-फिर बच्चे होंगे तो

उनकी शादी आदि कौन करेगा? राजा बोला मैं स्वर्ण मुद्रायें ला दूँगा। साधु ने कहा-यह सब तो ठीक है जब किसी न किसी की मृत्यु भी होगी तो फिर रोवेगा कौन?

राजा ने कहा-महाराज ! मैं और सब कुछ तो कर सकता हूँ पर मैं रो नहीं सकता, रोना तो आपको ही पड़ेगा। जिसके ममता है वही रोयेगा। साधु बोले-भैया ! इस मुफ्त की ममता से दु:ख ही रहेंगे, तत्त्व की वृद्धि कुछ नहीं रहेगी। ये पुत्र-मित्र-कलत्र, संसार-शरीर-भ. ोग दु:खकारी हैं। यथार्थता के स्वरूप को जानकार विराग भाव को प्राप्त होना ही संवेग है।

जब एक गृहस्थ घर में रहता है तो घर के प्रति मोह रहता है जब साधु संघ में पहुँच जाता है तब साधु संघ के प्रति राग बढ़ता है। घर वालों के प्रति, घर के प्रति राग घटता चला जाता है। वहाँ कम हो रहा है तो यहाँ बढ़ रहा है। यहाँ बढ़ रहा है तो वहाँ घटेगा। यदि आत्म तत्त्व के प्रति भावना तीव्र हो रही है समवृत्ति हो रही है, आत्मा के कार्यों में आनंद आ रहा है तो शरीर के कार्यों के प्रति विरक्ति हो रही है उसमें आनंद नहीं आ रहा है, एक साथ दोनों नहीं हो सकते। इसीलिये धर्मात्मा प्राय: उस माहौल में रहते हैं जहाँ वैराग्य की परिपुष्टि हो, वैराग्य पूर्णता को प्राप्त हो, जहाँ वैराग्य धुल जाये वह वहाँ नहीं जाता। कच्चे वैरागियों को इसीलिये वहाँ पर स्थान दिया जाता है जहाँ पर वैराग्य परिपक्व हो।

कच्चा वैराग्य मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह से है। वह मिट्टी तो नहीं है, है तो कलश किन्तु वह अभी तपा नहीं है यदि पानी की बरसात हो गयी तो कलश पुन: मिट्टी का मिट्टी हो गया। इसलिये जब कच्चा वैराग्य होता है तब उसे वहाँ रखा जाता है जहाँ पानी नहीं हो, राग की कीचड़ नहीं आ रही हो, द्वेष नहीं बह रहा हो, मोह की बरसात नहीं हो रही हो, जहाँ पर ज्ञान का दिव्य प्रकाश हो रहा है, प्रचण्ड ताप हो जिससे वह वैराग्य पक जाये। इतने पर

भी पर्याप्त नहीं फिर संयम व तप की अग्नि में, ध्यान की अग्नि में उस वैराग्य के कलश को तपाया जाता है, फिर चिन्ता नहीं रहती यदि अब उस कलश को पानी में भी डाल दो तो टूटेगा नहीं, घुलेगा नहीं, फूटेगा नहीं। इसी तरह जो कच्चा वैरागी है वैरागियों के साथ रहकर उसका वैराग्य पक्का होता जाता है फिर उसे लगता है वह मेरा नहीं था मेरा तो ये है। संसार की ओर से ज्यों-ज्यों घटता चला जायेगा, त्यों-त्यों मोक्ष की ओर बढ़ता जायेगा।

आपने देखा होगा ग्वालिन जब मथानी से दही मंथन करती है तो उस रई से रस्सी लिपटी होती है एक रस्सी को यदि खींचती है तो दूसरी छोटी हो जाती है, जब दूसरी को खींचती है तो पहली छोटी हो जाती है। रस्सी उतनी ही बड़ी है अर्थात् तुम्हारा राग धर्म के प्रति बढ़ रहा है तो संसार के प्रति छोटा होता चला जा रहा है यदि संसार के प्रति राग बढ़ रहा है तो धर्म घटता जायेगा। बात यह है कि एक बार में दो जगह से नौकरी प्राप्त नहीं की जा सकती। कोई व्यक्ति महेश के यहाँ नौकरी करे और रमेश के यहाँ तनखा लेने पहुँच जाये तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि वैरागी वैराग्य को प्राप्त करके वैरागियों के साथ रहता है तो वैरागियों का परिवार ही उसका परिवार हो जाता है। छोड़ा हुआ परिवार उसका परिवार नहीं होता। तो संवेग भावना का आशय होता है समीचीन वेग के साथ रहना। तीर्थंकर वही बनता है जिसने पूर्वभव में अपने वेग पर नियंत्रण कर लिया हो।

तीर्थंकर प्रकृति का इतना अभ्युदय, इतना आध्यात्मिक वैभव और बाह्य वैभव किसे मिलेगा? जिसके पास उसे झेलने व पचाने की सामर्थ्य हो। जो अपने जीवन की धारा को संवेग के अंकुश के अनुसार चला सके। जिसका अपने आप पर ही नियंत्रण नहीं है, अपने मन व इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है। जो किसी भी शरीर के वेग को सम्यक् वेग नहीं बना सकता उसे इतना बड़ा वैभव नहीं दिया जा सकता। प्रकृति उसे इतना बड़ा वैभव नहीं दे सकती।

महानुभाव ! संवेग भावना का यही आशय है कि हमने अपनी पाप वाली खिड़की बंद कर दी। एक हॉल है एक तरफ से खुशबू आ रही है एक तरफ से बदबू आ रही है। बदबू वाली तरफ से एक-एक करके खिड़की बंद करना शुरू कर दिया और खुशबू वाले दरवाजों को खोल दिया अर्थात् पुण्य का आश्रव मन से भी, वचन से भी, काय से भी सभी प्रकार से प्रारंभ हो गया। तो संवेग भावना समीचीन धारा में बहने का नाम है।

महानुभाव ! संवेग कैसे होता है ? संवेग होता है संसार से। संसार की सही दशा का अवलोकन करने पर, उसका यथार्थ बोध होने पर। एक राजा तीन दिन से सोया नहीं उसका इकलौटा बेटा अस्वस्थ पड़ा हुआ था, रानी भी पास में बैठी हुयी थी। अचानक तीन दिन बाद राजा की नींद लगी, वहीं वैद्य हकीम सब बैठे हुये थे। ज्यों ही राजा की नींद लगी राजकुमार की मृत्यु हो गयी, महलों में हाहाकार मच गया, रानी रुदन करने लगी, वैद्य-हकीम-राजदरबारी आदि सभी उस इकलौते राजकुमार की मृत्यु पर रोने लगे। राजा की अचानक नींद खुली, तो हक्का-बक्का सा रहा गया किन्तु आश्चर्य यह कि राजा रो नहीं रहा। वैद्य-हकीम-मंत्री आदि सबने हिलाया कि राजा रोये, किन्तु राजा के चेहरे पर शिकन तक नहीं आयी। लोगों ने सोचा कि राजा बेटे के गम में पागल हो गया है। राजा ने कहा-मुझे क्यों हिलाते हो ? मुझे पता है ये मेरा पुत्र मेरे सामने मरा पड़ा है। सभी ने कहा-तो फिर आप रोते क्यों नहीं ? राजा ने कहा-मैं किसके लिये रोऊँ अभी मेरी नींद लगी थी, क्षणभर के लिये उस नींद में मैं चक्रवर्ती बन गया था, मेरी 96000 रानियाँ थी, 6 खण्ड का राज्य था, 14 रत्न 9 निधि थीं। मेरे पास 64000 बेटे थे, 32000 कन्यायें थी। आपने झकझोर के हिला दिया देखते-देखते मेरा छः खण्ड का राज्य नष्ट हो गया। मेरी 96000 रानियाँ चली गयीं, 96000 पुत्र-पुत्रियाँ चले गये सब कुछ तो नष्ट हो गया उसके लिये रोऊँ या इस इकलौते पुत्र के

लिये रोऊँ। सभी बोले-अरे वह सपना था। राजा ने कहा-वह आँख बंद किये का सपना था ये खुली आँख का सपना है।

आँख मुँदी तो अपना गया, आँख खुली तो सपना गया।

दो दिन का मेहमान यहाँ पर श्वास रुकी तो दफना गया।।

महानुभाव ! सत्यता तो यही है-इससे बड़ी जिंदगी की कोई सा. र्थकता नहीं है, कोई सारभूत अवस्था नहीं है। तो संवेग भावना का आशय ये है कि सत्य को पहचानें। यह संसार सपना है और जब तक हम सो रहे हैं तब तक सपना दिखाई दे रहा है, नींद टूटते ही सपना टूट जायेगा सिर्फ अपना-अपना रह जायेगा। उस सपने को जानने की कोशिश करें यही संवेग भावना का अर्थ है। आप भी संवेग भावना को अपने जीवन में अंगीकार करने की कोशिश करें, यही मैं आपके प्रति मंगल भावना भाता हूँ और इसी के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

संवेग भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः-संसार के दु:खों से नित्य डरते रहना संवेग है।

-सर्वार्थ सिद्धि

संविग्गो संसाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगतः।

संवेग अर्थात् द्रव्य व भाव रूप पंचपरावर्तन संसार से जिसको भय उत्पन्न हुआ है।

-भगवती आराधना

धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो।

धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है, वह संवेग है।

(द्रव्यसंग्रह टी.)

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्तः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु:॥४३१॥

(पंचाध्यायी)

धर्म व धर्म के फल में आत्मा के परम उत्साह को संवेग कहते हैं। अथवा धार्मिक पुरुषों में अनुराग अथवा पंचपरमेष्ठी में प्रीति रखने को संवेग कहते हैं।

संवेगः संसृतेर्दु:खाद, दुस्सहान्नित्यभीरुता।

-उत्तरपुराण, सर्ग 63/323

संसार के दु:सह दु:ख से निरन्तर डरते रहना संवेग कहलाता है।

''संसाराद्भीरुत्वं संवेगः''

संसार से भयभीत रहना संवेग भावना है।

-भावपाहुड़ टीका

देह भोगभवादौ स सर्वत्रानिशमादधे।
वैराग्यं रागमाहात्य स्वर्गमोक्षाध्वदर्शकम्॥७८॥

(पार्श्वनाथ पुराण)

सर्वत्र राग को नष्ट कर शरीर-भोग तथा संसार आदि के विषय में निरन्तर स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग दिखाने वाला वैराग्य भाव अर्थात् संवेग भावना का चिंतन करते थे।

जन्मजरामरणाभय मानसशारीर दुःख संभारात्।
संसाराद्भीरुत्वं संवेगो विषयतृट्छेदी॥१३६॥

-हरिवंशपुराण, सर्ग-34

जन्म, जरा, मरण तथा रोग आदि शारीरिक और मानसिक दुःखों के भार से युक्त संसार से भयभीत होना सो विषयरूपी तृषा को छेदने वाली संवेग भावना है।

शारीरं मानसं च बहुविकल्पप्रियविप्रयोगाऽप्रिय-संयोगेप्सिता-ऽलाभादिजनितं संसार दुःखं यदतिकष्टं ततो नित्यभीरुता संवेगः।

-तत्त्वार्थवार्तिकम् आ. अकलंकदेव स्वामी

शरीरद मानस आदि अनेक प्रकार के प्रियवियोग अप्रियसंयोग इष्ट का अलाभ आदिरूप सांसारिक दुःखों से नित्यभीरुता संवेग है।

संसाराद् भय-संवेगः धर्म-धर्म फले सदा।
साधर्मी एव नुरागो वा, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

संसार से भय करना संवेग है, सदा धर्म और धर्म के फल या साधर्मियों में अनुराग करना संवेग भावना है। जो तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

६. शक्तितस्त्याग भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति जैसी उत्तम वस्तु को प्राप्त करने के लिये हमने पाँच परीक्षायें पास की। दृष्टि की निर्मलता, विनम्रता की सम्पत्ति, अनतिचार रूप से शीलव्रतों का पालन, निरन्तर ज्ञानोपयोग की धारा में अवगाहन और पुनः अपनी गति पर सम्यक् नियंत्रण। अब इसके आगे 6वीं परीक्षा है जिसमें पास होने पर हम और आगे बढ़ गये तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में। माना कि ये तीर्थंकर प्रकृति के बंध में 16 विषय हैं और किसी भी विषय में नंबर इतने कम नहीं आना चाहिये कि वह फेल हो जाये। उसे सबसे टॉप नंबर लाना चाहिये दर्शनविशुद्धि भावना में उसके बाद इतने-इतने नंबर तो आना ही चाहिये कि वह पास हो जाये।

छटवीं भावना है शक्तितस्त्याग भावना। मन में एक विकल्प आता है, एक जिज्ञासा पैदा होती है यह शक्तितः शब्द लगाने की क्या आवश्यकता है? आवश्यकता इसलिये है कि संसार में त्याग अनेक प्रकार के होते हैं। शक्ति के अनुसार भी, शक्ति से ज्यादा भी, शक्ति से कम भी। तो जो त्याग शक्ति के अनुसार है वही त्याग यहाँ मान्य है। शक्ति से कम किया गया त्याग मान्य नहीं है क्योंकि वहाँ त्याग की भावना ही नहीं दिखती। शक्ति से ज्यादा किया गया त्याग भी मान्य नहीं है क्योंकि वहाँ लोभ कषाय दिखाई देती है। शक्ति से ज्यादा करने का आशय है एक आवेश, एक आवेग, एक उद्वेग।

एक नगर में एक गरीब महिला रहती थी। उसके पास ज्यादा द्रव्य व बर्तन नहीं थे। एक दिन उस नगर में एक महान् तपस्वी मुनिराज विहार करते हुये आए। उस महिला के मन में तीव्र भावना हुई कि मैं भी मुनिराज का चौका लगाऊँ उन्हें आहार कराऊँ लेकिन उसके घर में कुछ भी नहीं था। तभी उसने सोचा कि थोड़ा बाजरा रखा हुआ है और अभी सर्दी का समय है मैं मुनिराज के लिये बाजरे की

खिचड़ी बना लूँगी। उसने एक मिट्टी की हांडी में खिचड़ी बनाई व सोचा कि लोहे का तसला रखा है उसमें पाद प्रक्षालन कर लूँगी और मुनिराज का पड़गाहन करने अपने द्वार पर जाकर खड़ी हो गई।

उस दिन नगर में बहुत सारे चौके लगे थे, सबने अनेक प्रकार के व्यंजन बनाये थे सभी अपने-अपने द्वार पर खड़े होकर पड़गाहन करने लगे। लेकिन उस दिन उस अम्मा की तीव्र भावना का प्रभाव कि मुनिमहाराज का पड़गाहन उसके यहाँ हो गया। वह मुनिमहाराज को अपनी झोंपड़ी में ले गई। लोहे के तसले में पैर धोये। वह तसला सोने का हो गया। फिर बाजरे की खिचड़ी का महाराज को आहार करवाया, मुनिराज ऋद्धिधारी थे। अपनी शक्ति को न छिपाकर जो महिला ने मुनिराज को आहार दिया उस आहार दान के प्रभाव से उसकी कुटिया में रत्नों की वर्षा हुई, पंचाश्चर्य हुये। बिना इच्छा के त्याग में बड़ा बल होता है।

एक पडोसन को यह सब देख ईर्ष्या हो गयी, उसने सोचा जब बाजरे की खिचड़ी का आहार कराया तो रत्न बरसे हैं। मैं कल छत्तीस प्रकार के व्यंजन बनाऊँगी मेरे तो न जाने कितने रत्न बरसेंगे। अगले दिन उसने ऐसा ही किया लेकिन मन में भावना दान की त्याग की नहीं थी, रत्न पाने की थी। मुनिराज का पड़गाहन किया, मुनिराज आ गये, आहार शुरू हुआ आहार में तेज गर्म पानी मुनिराज की अंजलि में चलाया और ऊपर देखने लगी कि रत्नों की वर्षा होगी, इतने में तेज गर्म पानी हाथ में पड़ते ही मुनिराज की अंजलि छूट गई और अन्तराय हो गया। महानुभाव ! त्याग अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है उसमें कुछ पाने की भावना नहीं होती। अम्मा ने अपनी शक्ति के अनुसार त्याग किया तो पञ्चाश्चर्य हुये और दूसरी पडोसन ने रत्न पाने के लिये चौका लगाया। विवेक का प्रयोग न करके मुनिराज का अन्तराय करवा दिया तो वह त्याग, त्याग नहीं है। उसमें महिला को रत्न पाने का लोभ था ऐसा त्याग, त्याग के अन्तर्गत नहीं आता।

संसार में अनादिकाल से पड़ा हुआ जीव इन उद्वेग और आवेगों के बीच में ही तो चल रहा है। अभी उसे राग का आवेग था, अब उसे द्वेष का आवेग आ गया। जिसके प्रति प्राण देने को तैयार था, अगले क्षण में उसके प्राण लेने को तैयार हो गया। गुस्सा, मान, माया, लोभ चारों कषाय हैं जितनी तीव्रता उस ओर थी अब इस ओर हो गयी अंतर क्या पड़ा ? पहले भोगों के प्रति आसक्ति थी और अब ऐसी विरक्ति हो गयी उन भोगों की तरफ देखना तक नहीं चाहता है किन्तु कल्याण का मार्ग किसी भी अति के द्वार से नहीं गुजरता। कल्याण का मार्ग जहाँ से गुजरता है वहाँ उस अति का द्वार ही नहीं होता। वह तो इससे दूर जाता है।

व्यक्ति अति में जीना जानता है। या तो अति खायेगा या अति छोड़ेगा, या अति बोलेगा या अति मौन ले लेगा, या अति झुकेगा या अति अहंकार में तनेगा, या तो अति सरल सहज बन जायेगा या अति मायाचारी करेगा। या तो अति लोभी बनेगा या अति दान करेगा। व्यक्ति के संस्कार अनादिकाल से अति में जीने के पड़ गये हैं किन्तु कल्याण का मार्ग अति के बीच में से निकलता ही नहीं है। अति का और कल्याण का तो दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति कहे कमल के पुष्प में से सूरज निकलता है तो लोग उसकी बात को सुनकर के हँसेंगे। कमल के पुष्प का व सूर्य का क्या सम्बन्ध ये तो कह सकते हैं कि सूर्य को देखकर के कमल का पुष्प खिलता है किन्तु ये बात कहना कि कमल के पुष्प के खिलने से सूर्य निकलकर बाहर आता है तो यह हास्यास्पद बात है।

कल्याण कभी अति में नहीं होता। जब कोई ड्राइवर अपनी गाड़ी चलाता है रोड़ चाहे अच्छा हो या बुरा, राजमार्ग हो या अपवाद मार्ग किंतु गाड़ी ऐसे चलायी जाती है जिससे बैलेंस बिगड़ न जाये। यदि गाड़ी को दाईं ओर ज्यादा झुका दी तब भी गाड़ी लुढ़क जायेगी बॉयी ओर ज्यादा झुका दी तब भी गाड़ी लुढ़क जायेगी। गाड़ी को बराबर बीच में चलाना है, संतुलन में चलाना है। जैसे तराजू का जो काँटा

होता है वह बीच में होना चाहिये, चाहे ज्यादा दिया तो भी गलत है कम दिया तो भी गलत है। ज्यादा लिया तो भी गलत है कम लिया तो भी गलत है। न्याय कहता है कि वह काँटा बीच में होना चाहिये। न्यायमार्ग ही कल्याण का मार्ग है उसमें काँटा इधर-उधर झुक नहीं सकता। इसी तरह कहा कि कल्याण के मार्ग पर संतुलन बनाकर चलो। कहीं भी असंतुलन हुआ तो डिग जाओगे। कल्याण का मार्ग इतना पतला पगड़डी जैसा मार्ग है जैसे रस्सी बंधी हो, नदी के इस किनारे से उस किनारे पर जाना है और उस पतले से मार्ग से निकलना है थोड़ा भी Balance बिगड़ा तो धड़ाम से नीचे गिर जाओगे इधर (दाँयी ओर) गिरे तो भी खतरा उधर (बाँयी ओर) गिरे तो भी खतरा, अतः अपने बैलेंस को साध के चलना है।

विरागता का आशय होता है राग का विरलन करना, राग का फैला देना, द्वेष का फैला देना। यदि ये फैल जायेंगे तो तुम्हारी आत्मा को पकड़ नहीं पायेंगे। सेना इकट्ठी हो जायेगी तो किसी भी शत्रु को पकड़कर बंधन में डाल सकती है और सेना हजारों प्रमाण लाख प्रमाण या अक्षौहिणी प्रमाण भी क्यों न हो यदि बिखरी हुयी है, बहुत दूर तक फैली हुयी है तो राजा भी कुछ न कर सकेगा। ऐसे ही जब हमारा राग द्वेष फैल जाता है तब फैला हुआ राग-द्वेष हमारी आत्मा को बाँध नहीं पाता है। वह फैला हुआ राग द्वेष वैराग्य है। जब वैराग्य हो जाता है तो क्रमशः कर्म रूपी शत्रु नष्ट किये जा सकते हैं किन्तु जब वे शत्रु घनीभूत एकत्र हो जाते हैं तब उन्हें नष्ट कर पाना बहुत कठिन हो जाता है। जैसे रस्सी बटी हुयी है उस रस्सी के बंधन को उकेल दो तो ढीली पड़ जाती है उसकी शक्ति क्षीण होती चली जाती है।

राग-द्वेष के बंधन को ढीला करना है। त्याग का आशय है समी. चीन धारा में आपने बहना सीख लिया, अब तुम्हारे मार्ग में जो नहीं आ रहा है उसका त्याग करो। जो तुम्हारे मार्ग में आ रहा है उसे

छोड़ के नहीं जाना है अपना रास्ता नहीं बदलना है अपना रास्ता तो जो है वही रहेगा उसे छोड़ना नहीं है, अपने रास्ते को छोड़ दोगे तो रास्ता ही तुम्हें छोड़ देगा, मंजिल तुम्हें छोड़ देगी। जो रास्ता मंजिल तक जाता है उस रास्ते का त्याग नहीं करना है नहीं तो रास्ता व मंजिल दोनों तुम्हारा त्याग कर देंगे। फिर क्या करना है? रास्ते के बाहर जो चीज है उनका मोह छोड़ो, उसका त्याग करो। राजपथ पर चलते हुये तुमने देखा कि ये बगीचा बहुत सुन्दर है और उस दिशा में चले गये, नदी दिखी तो और आगे चले गये ऐसा करोगे तो तुम राजपथसे छूट जाओगे। तुम्हें उस राजपथ का त्याग नहीं करना है, तुम्हें इस मार्ग के अपवादों का त्याग करना है। अपवाद अच्छे भी हो सकते हैं बुरे भी हो सकते हैं। अनावश्यकों का त्याग करना है जो मार्ग में बाधक कही जा सकती हैं जिनसे आपका रास्ता भटक सकता है, दुर्लभ व कठिन हो सकता है उनका त्याग कर दो। त्याग कैसे करना है ? शक्तितः त्याग। शक्ति से ज्यादा भी नहीं करना, शक्ति से कम भी नहीं करना।

दिगंबरेतर मत में आता है, मात्र तथ्य को ग्रहण करना है।

एक बार भगवान् महावीर स्वामी जब मुनि अवस्था में थे तब वे बहुत कठोर साधना कर रहे थे। पक्षोपवास, मासोपवास, चातुर्मासा. ेपवास, षष्टमासोपवास ऐसी साधना कर रहे थे। तभी कुछ देव वहाँ पर श्रावकों का रूप बनाकर आये और संगीत बजाने लगे, संगीत बजाते-बजाते ध्वनि थोड़ी अच्छी नहीं आयी तो वीणा के तार कसने लगे, तार कसे तो थोड़ी आवाज ठीक आयी किन्तु वीणा ज्यादा देर तक चल न सकी, यदि तार ढीले करते थे तो आवाज आती नहीं थी। महावीर स्वामी ने अपने नयन खोले-वे अपने अवधिज्ञान से जानते हैं कि ये देव अपना कौतुक क्यों दिखा रहे हैं ? अरे ! सत्यता तो यही है कि वीणा के तारों को इतना ज्यादा नहीं कसना है कि वीणा टूट जाये, और इतना ढीला भी नहीं करना है कि आवाज ही न निकले

अर्थात् मुझे साधना मध्यम गति से करना है। तीव्र साधना से जल्दी ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी ऐसा नहीं है। साधना में कैसे विशुद्धि बढ़ेगी ये देखना है। दौड़ लगाने से मंजिल जल्दी आ जायेगी ऐसा नहीं है दौड़ लगाने पर हो सकता है हमें रास्ता दूसरा चुनना पड़े। अतः साधना वह करें जिस साधना में अति न हो।

कई बार त्यागीव्रतियों को देखा है वे शक्ति का अनुमान लगाये बिना, अपनी शक्ति को पहचाने बिना अन्नादि रसों का त्याग कर देते हैं। अरे सहजता सरलता से आपकी अंजली/करपात्र में जो आ जाये वह ले लो। त्याग करने से अहंकार पुष्ट होता है। और ऐसा भी नहीं कि माँग-माँग कर खाओ। अरे साधु की चर्या तो वह है जो सहजता में आ जाये वह ग्रहण करो। जो त्याग की अति करते हैं वे भी आत्मशांति के मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाते और जो आसक्त रहते हैं, त्याग ही नहीं करते वे भी आत्म शांति को प्राप्त नहीं कर पाते। आत्मशांति का मार्ग है सहज अवस्था।

त्याग क्या करना है ? जो तुम्हारे मार्ग में बाधक है उसका त्याग करना है, जो साधक है उसका त्याग नहीं करना और किसके लिये क्या साधक है, किसके लिये क्या बाधक है अपने आप देखो। एक वस्तु तुम्हारे लिये साधक है, दूसरे के लिये बाधक है। जिसके लिये बाधक थी उसने त्याग कर दी तो उसकी देखा-देखी तुम त्याग मत करो। जो तुम्हारे लिये बाधक हो उसी का त्याग करो भले ही वह दूसरों के लिये साधक हो। तो शक्तितः त्याग का आशय होता है अपनी शक्ति को मत छिपाओ, जितनी शक्ति है उतना करो। यदि शक्ति 1 किलो. वजन उठाने की है तो 100 किलो वजन उठाने की चेष्टा मत करो और शक्ति है 1 टन वजन उठाने की तो 1 किलो वजन उठाकर संतोषी मत हो जाओ। अपनी शक्ति को छिपाना ही चोरी है, अपनी शक्ति से ज्यादा करना बेईमानी है। चोरी और बेईमानी करने से साधना विशुद्ध नहीं होती। साधना में अन्याय होने से साध्य की सिद्धि न होगी।

जो तीर्थंकर बनने वाला है उसे पूर्व भव में ईमानदारी का परिचय देना है कि वह अपनी शक्ति को न छिपाते हुये साधना करे, वह त्याग करे जिसकी उसे आवश्यकता नहीं है। और सत्य बात तो ये भी है कि जब साधक साधना के मार्ग में उतरता है तो अन्य अनावश्यक वस्तु का स्वत: त्याग हो जाता है जैसे कोई योगी ईर्यासमिति से चलता है तो सामने की चार हाथ जमीन दिखाई देती है और आस-पास की जमीन को त्याग करता चला जाता है, पीछे जिस जमीन को छोड़कर आया है उसे मुड़कर के नहीं देखता कि मैं कितनी भूमि छोड़कर के आ गया। तो सहजता में सबका त्याग हो जाता है। जो जिसके लिये आवश्यक है वह उसे ग्रहण करे व शेष बचे के प्रति उपयोग नहीं लगाना ये उसका त्याग है।

त्याग भावना तभी आ सकती है जब संवेग भावना हो। नदी जब सागर से मिलने के लिये जाती है तो उसका एक ही लक्ष्य होता है सागर से मिलना, ऐसा नहीं कि मार्ग में पर्वत आ रहा है तो पर्वत को उखाड़ कर फेंक दूँ, जो सहज रास्ता है उसी पर चलती जाती है। पानी को रास्ता अपने आप मिलता जाता है पानी स्वयं अपना रास्ता निकालता जाता है। महानुभाव ! ऐसे ही योगी को रास्ता स्वयं मिलता चला जाता है कोई भी बाधक बाधायें योगी के मार्ग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकतीं योगी स्वयं सफल हो जाता है।

कहते हैं चलने वाला चलता है तो मंजिल स्वयं सरक करके आ जाती हैं। तो त्याग भावना इसलिये आवश्यक है क्योंकि आज की साधना की उपलब्धि से वह संतुष्ट हो जायेगा तो विशेष वस्तु को प्राप्त न कर पायेगा। यदि वह आगे बढ़ता चला गया तो वह और आगे आने वाली मंजिल को प्राप्त कर लेगा। जैसे एक गाँव का किसान वह अपने दो बीघा खेत से प्राप्त अनाज से संतुष्ट हो जाता है उसके पास शेष 98 बीघा खेत पड़ा हुआ है वह उसकी उपेक्षा कर देता है इसका आशय यह है कि वह और समृद्धि को प्राप्त नहीं

कर सकता। एक विद्यार्थी यदि 30, 35 प्रतिशत नंबर प्राप्त करके संतुष्ट हो जाता है तो इसका आशय है वह अपने आगे का रास्ता बंद कर रहा है, यदि एक व्यापारी थोड़े से लाभ में संतुष्ट हो जाता है तो वह आगे बड़ा लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। इसीलिये लाभ वही प्राप्त कर सकता है जिसके अंदर अधिक हानि झेलने की सामर्थ्य हो।

महानुभाव ! पूर्वभव में जिन्होंने ''सोलह कारण भावना भायी है, शक्तित:त्याग भावना जिसने भायी है कि मैं शक्तिअनुसार त्याग करूँगा जितना मुझे चाहिये उतने पर मेरा अधिकार और जो नहीं चाहिये वह मेरा है नहीं, था नहीं, होगा नहीं। जो है नहीं, था नहीं, होगा नहीं उसका त्याग करने में कैसा हर्ज और जो तुम्हारा है नहीं उसका तुमने त्याग किया है तो उसका त्याग करके भी अहंकार क्यों ? यदि मन में राग है, मान कषाय है तो त्याग व्यर्थ है।

यदि मान मन में रहा व्यर्थ है त्याग विराग।
मान करो मत त्याग का, करो मान का त्याग

महानुभाव ! कुछ लोग त्याग करके अहंकार करने लगते हैं मैंने इतना त्याग कर दिया, मैं पहले ऐसा था। एक संन्यासी कहने लगा मैंने संन्यास ग्रहण करने के पूर्व बीस करोड़ की सम्पत्ति पर लात मार दी। संन्यासी जी! कब लात मारी थी ? आज से 35 साल पहले। लगता है संन्यासी जी आपने जोर से लात नहीं मारी, यदि 35 साल पहले लात मारी होती तो वह सम्पत्ति आज तुम्हें आँखों से दिखाई नहीं देती। त्याग तो वह कहलाता है जिसे छोड़ दिया तो पुन: उसका विकल्प नहीं आना चाहिये। जैसे शरीर से मल का त्याग किया जाता है, मल त्याग करके उसे पुन: देखा नहीं जाता भूल जाते हैं। ऐसे ही आपने जिसका त्याग कर दिया है वह मल था। अरे! तुमने किसी की वस्तु को चोरी कर लिया और बाद में वस्तु लौटा दी इसमें किस बात का अहसान, दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करना चोरी है, बेईमानी है। तो त्याग करने का कभी अहंकार नहीं आना चाहिये।

अतः अहंकार का त्याग करो, ममत्व भाव का त्याग करो, मोह का त्याग करो, मान का त्याग करो, राग का त्याग करो, द्वेष का त्याग करो तब तो त्याग सफल और सार्थक हो सकता है।

एक नगर का राजा मर गया, मंत्रियों ने सोचा कि अब किसे राजा बनाया जाये? सभी ने तय कर लिया कि सुबह के समय अपना रा. ज-फाटक खुलेगा, तो जो व्यक्ति फाटक पर बैठा हुआ मिलेगा उसको ही राजा बनायेंगे। फाटक खुला तो वहाँ मिले एक साधु महाराज। वे लोग उस साधु का हाथ पकड़कर ले गये, बोले-तुम्हें राजा बनना है। साधु बोले अरे ! नहीं, नहीं। हम राजा नहीं बनेंगे वे लोग बोले तुम्हें ही राजा बनना पड़ेगा, उतारो ये लंगोटी और ये राज्याभूषण पहनो। साधु कहता है अगर तुम नहीं मानते और हमें ही राजा बनाते हो तो हम राजा बन जायेंगे। पर हमसे कोई बात न पूछना, सब काम-काज आज से आप लोग ही चलाना। सभी बोले-हाँ-हाँ यह तो मंत्रियों का काम है आपसे पूछने की जरूरत ही क्या है? हम लोग सब काम चला लेंगे।

बात तय हुयी और साधु ने अपनी लंगोटी एक पेटी में रख दी और राजवस्त्र धारण कर लिये। दो-चार वर्ष गुजर गये। एक बार शत्रुपक्ष ने चढ़ाई कर दी। मंत्रियों ने पूछा-राजन्! अब क्या करना चाहिये? साधु बोले-अच्छा एक काम करो पहले हमारी पेटी उठाकर दो। मंत्रियों ने पेटी दे दी, साधु ने सब राज्याभूषण उतारकर लंगोटी पहिन ली और कहा-''हमें तो यह करना चाहिये और तुम्हें जो करना है सो करो। ऐसा कहकर चल दिया क्योंकि साधु को राज्य के प्रति कोई ममत्व नहीं था। त्याग का वास्तविक अर्थ यही है कि वस्तु के त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करना। यह ममत्व भाव ही दुःख का कारण है।

महानुभाव ! त्याग भावना यही सिखाती है कि आप सहजता में जीना सीखें, त्याग करना है तो ऐसा करो जो त्याग सहजता में हो

जाये, जिससे आपकी विशुद्धि बढ़ने लगे। ऐसा त्याग मत करो जिसे त्याग करके पुनः पकड़ने की इच्छा करे, त्याग करके पश्चाताप न करो जो तुम्हारे मार्ग में बोझ रूप है उसे छोड़ दो और जो बोध रूप है उसे मत छोड़ो, जो तुम्हारे सहायक हैं उसे मत छोड़ो जो बाधक हैं उसे पकड़कर के मत चलो।

महानुभाव ! जब तक त्याग नहीं करोगे तो आगे नहीं बढ़ोगे। जिसके जीवन में त्याग नहीं है समझो उसके जीवन में आग ही आग है। परवस्तुओं का त्याग उस आग को और उस आग के प्रति राग को शान्त करने वाला है इसलिये आत्म स्वभाव को प्राप्त करने के लिये परभावों का त्याग करना बहुत आवश्यक है। परभावों का त्याग न करोगे तो स्वभाव को कैसे प्राप्त होगे। अरे! गन्दे कपड़े उतारो तभी तो सही कपड़े पहन पाओगे, अरे ! शरीर के मल/गन्दगी को दूर करो तब तो ताजापन महसूस होगा, अरे ! इस बदबूदार कोठरी को छोड़ो तभी तो स्वच्छ महल में प्रवेश कर पाओगे, पाप को छोड़ो तो पुण्य मिलेगा, अहित को छोड़ो तो हित मिलेगा, राग को छोड़ो तो विराग मिलेगा वीतरागी बनोगे। अज्ञान को छोड़ो तो ज्ञान मिलेगा, मोह को छोड़ो तो सुख मिलेगा, असंयम को छोड़ो संयम मिलेगा।

तो महानुभाव ! बिना त्याग किये कुछ मिलता नहीं है। त्याग हमारी आत्मा का स्वभाव है। परभावों का त्याग करना है और ये सहजता है, जो परभावों का त्याग करने के लिये समर्थ हो जाता है वही भविष्य में तीर्थंकर बनने का एक प्रमाण पत्र और प्राप्त कर लेता है। तो आप और हम सभी त्याग से घबड़ायें नहीं और त्याग करके इतरायें नहीं। सहजता में जीने की कोशिश करें यह त्याग ही हमारी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ है। आप और हम सभी त्याग के मार्ग पर बढ़ें यही श्रेयो मार्ग है इन्हीं सद्भावों के साथ हम अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

शक्तितस्त्याग भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्-आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति। तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते।

-सर्वार्थसिद्धि-आ. पूज्यपाद स्वामी

त्याग दान है। वह तीन प्रकार का है-आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। उसे शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है।

२. परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरण कारणम्। अत एतत्त्रिविधं यथाविधि प्रतिपद्यमानं त्यागव्यपदेशभाग्भवति।

-राजवार्तिक-आ. अकलंकदेव स्वामी

पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। आहार देने से पात्र को उस दिन प्रीति होती है। अभयदान से उस भव का दुःख छूटता है, अतः पात्र को सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवों के दुःख से छुटकारा दिलाने वाला है। ये तीनों दान विधि-पूर्वक दिये गये त्याग कहलाते हैं।

३. स्वशक्त्यनुरूपं दानं।

(भावपाहुड टीका)

अपनी शक्ति के अनुसार दान देना शक्तितस्त्याग भावना है।

४. साहूणं पासुअपरिच्चागदाए-अणंतणाण-दंसण-वीरिय-विरइ-खइयसम्मत्तादीणं साहया साहू णाम।

दयाबुद्धिये साहूणं णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअपरिच्चागदा णामं।

-धवला जी, पु. 8

साधुओं के द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्यज्ञान दर्शनादिक के त्याग से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।

अर्थात् दयाबुद्धि से साधुओं के द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के परित्याग का दान का नाम प्रासुक परित्यागता है।

आहारादित्रयोत्सर्गः पात्रेभ्यस्त्याग इष्यते।

–उत्तर पुराण, सर्ग 63/324

पात्रों के लिए आहार, अभय और शास्त्र का देना त्याग कहलाता है।

ज्ञानाभयादिसद्दानं दत्ते धीमान्निरन्तम्।
मुनीनां च सुपात्राणां स्वान्ययोर्हितकारणम्॥७९॥

(श्रीपार्श्वनाथ चरित्रम्)

मुनिराज निरन्तर मुनि आदि सुपात्रों के लिए स्वपर हित कारक ज्ञान तथा अभय आदि समीचीन दान देते थे अर्थात् शक्तितस्त्याग भावना का चिन्तवन करते थे।

भावेयुस्त्याग-भावं तो, कुर्यर्दान-चतुर्विधम्।
शक्तितर्लभते शान्तिः तीर्थंकरस्य कारणम्॥

आहारादि चार प्रकार का दान देवें और तीर्थंकर प्रकृति का कारण शक्तितस्त्याग भावना को भावें। जो ऐसा करते हैं वे शक्ति को प्राप्त करते हैं।

आहाराभयदानं तद्दिनभवदुःखमुद्यथायोगम्।
संसारदुःखहरणं ज्ञानमहादानमिष्यते त्यागः॥१३७॥

–हरिवंश पुराण, सर्ग 34

जिसदिन आहार ग्रहण किया जाता है, उस दिन एवं पर्याय सम्बन्धी दुःख को दूर करने वाला आहारदान, अभयदान और संसार के दुःखको हरने वाला ज्ञान महादान शक्ति के अनुसार देना सो त्याग नामकी भावना है।

७. शक्तितस्तप भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत जिन सोलहकारण भावनाओं के बारे में हम सुन रहे हैं उनमें 6वीं भावना देखी शक्तितः त्याग भावना। जीवन में त्याग तो करना है किन्तु शक्ति के अनुसार करना है। शक्ति को छिपाकर भी नहीं करना है और शक्ति से ज्यादा भी नहीं करना है। शक्ति से ज्यादा जब त्याग किया जाता है तब संक्लेशता बनती है और जब शक्ति से कम त्याग किया जाता है तब मन में मायाचारी रहती है इसीलिये शक्ति के अनुसार करना चाहिये। जो शक्ति के अनुसार त्याग नहीं करते समझो वह अपने आपको छल रहे हैं। शक्ति से ज्यादा त्याग कर रहे हैं वे स्वयं को दल रहे हैं। अपने आप को दलने में भी कल्याण नहीं है, अपने आप को छलने में भी कल्याण नहीं है। जैसे नदी बहती जाती है आस-पास में चाहे पुष्प वाटिका पड़े या मरघट पड़े नदी को उनसे कुछ लेना देना नहीं उसके मार्ग में जो बाधक है उसे त्यागती जाती है जो साधक है उसको ग्रहण करती जाती है।

साधक का भी उद्देश्य यही होता है वह बाधक साधनों का त्याग करता है साधक साधनों का सहयोग लेता है, और सहयोग भी ऐसा लेता है जैसे कोई व्यक्ति छत पर पहुँचने के लिये नसैनी/सीढ़ी पर चढ़कर जाता है छत पर पहुँचकर के सीढ़ी या नसैनी को अपनी पीठ पर नहीं टाँगता, उतरने के लिये सीढ़ी फिर काम में ले सकता है किंतु जब छत पर पहुँच गया तो सीढ़ी को पीठ से बाँधकर नहीं घूमता। ऐसे ही जब साधक साधना करता है जिन साधनों के माध्यम से उसकी साधना वृद्धि को प्राप्त हो रही है, उसके परिणाम विशुद्ध हो रहे हैं निर्मलता आ रही है उन साधनों को भी वह तब तक ग्रहण करता है जब तक आवश्यकता होती है पश्चात् उन्हें भी छोड़ देता है। जैसे कोई रोगी औषधि का सेवन तब तक ही करता है जब तक शरीर में रोग रहता है रोग चले जाने के उपरांत औषधि को नहीं

रखा जाता। ये नहीं कहता इस औषधि ने मुझे बचाया है, अब तो मैं औषधि को कभी नहीं छोडूँगा हमेशा औषधि को अपने साथ रखूँगा। ऐसा तो कोई मूर्ख व्यक्ति ही कहेगा बुद्धिमान् तो नहीं कहेगा।

अब त्याग भावना के उपरांत फिर आती है उत्तम तप भावना। शक्तितः तप भावना यानि शक्ति के अनुसार तप किया जाता है। जैसे त्याग शक्ति के अनुसार होता है ऐसे ही तप भी शक्ति के अनुसार ही होता है। शक्ति से ज्यादा करोगे तो स्वयं को नष्ट कर लोगे, शक्ति से कम करोगे तो जिस उद्देश्य से त्याग और तप कर रहे हो उसे प्राप्त न कर सकोगे। चलो उतना जितना तुम्हारा जंघाबल है यदि पैरों के बल से ज्यादा चलने की कोशिश करोगे तो कहीं पर लड़खड़ाकर गिर जाओगे, मंजिल तक पहुँच नहीं पाओगे। और यदि अपनी शक्ति से कम चल रहे हो चींटी की सी चाल तो तुम पहुँच नहीं पाओगे उससे पहले तुम्हारा शरीर ही पूरा हो जायेगा या वहीं पहुँचोगे जहाँ चींटी पहुँचेगी। चींटी जहाँ पहुँची गर वहाँ तुम पहुँच भी गये तो कौन बहादुरी का काम कर लिया। इससे सिद्ध होता है शक्ति के अनुसार त्याग होना चाहिये और शक्ति के अनुसार ही तपस्या होनी चाहिये।

तप एक अग्नि है। तप की अग्नि में आत्मा रूपी सोने को शुद्ध बनाया जाता है। जब तक सोना 16 ताप को सहन नहीं करता है तब तक सोना शुद्ध नहीं होता, कनक पाषाण में पड़ा हुआ व किट्ट कालिमा से युक्त होता है ऐसे ही आत्मा जब तक तप की अग्नि में तपती नहीं है तब तक आत्मा शुद्ध नहीं होती। इस आत्मा को तप की अग्नि में शुद्ध करना है। अग्नि कई प्रकार की होती हैं-क्रोधाग्नि, दावाग्नि, बड़वाग्नि, मोहाग्नि, जठराग्नि, तपाग्नि, ज्ञानाग्नि, ध्यानाग्नि आदि। दावाग्नि पूरे जंगल को स्वाहा कर देती है इसका ईंधन है लकड़ी। बड़वानल जो समुद्रों से फूट पड़ता है लावा निकलता है जो तेल आदि हैं उसमें आग लग जाती है। क्रोधाग्नि व्यक्ति के विवेक को नष्ट करती है। मोहाग्नि व्यक्ति के गुणों को नष्ट करती है यदि

तपाग्नि है तो वह विकारों को नष्ट करती है। ज्ञानाग्नि अज्ञान के अंधकार को जलाती है और ध्यानाग्नि घातिया-अघातिया कर्मों को नष्ट करती है।

यहाँ चर्चा है तपाग्नि की जिसमें इस आत्मा को तपाना है। जलाना अलग है, तपाना अलग है। सुनार अपने सोने के आभूषणों को चिमटी से पकड़ता है, मुँह में फूँकनी को दबाता है दीपक की ज्योति (लौ) उससे टकराती है उस आभूषण में धीमे-धीमे अग्नि लगती है, ताप लगता चला जाता है सोना शुद्ध होता चला जाता है और यदि अग्नि धुंआ से संयुक्त होगी तो आभूषण काला पड़ जायेगा। ऐसे ही तप की भी एक निश्चित अग्नि होती है। वह तप क्या है?

''इच्छा निरोधो तपः'' इच्छाओं को रोकना तप है। ''इन्द्रिय निरोधः तपः''-इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोक लेना तप है। मनो निग्रहः तपः-मन का निग्रह करना तप है। ऐसा नहीं कि पहाड़ की चोटी पर खड़े हो गये लम्बे हाथ लटकाकर और कहो तपस्या हो गयी, नहीं। अगर मन में इच्छायें भरी पड़ी हैं, मन में विषय कषाय भरे पड़े हैं, इन्द्रियों को जीत नहीं पा रहे, मन को जीत नहीं पा रहे, इच्छाओं को जीत नहीं पा रहे तो पहाड़ पर चढ़कर या नदी किनारे खड़े होकर या वृक्ष के नीचे खड़े होकर भी क्या होगा। जो अपने मन व इन्द्रियों को नहीं जीत सकता, जिसने अपनी इच्छाओं पर काबू प्राप्त नहीं किया ऐसा व्यक्ति कभी भी उत्तम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

शक्तितस्तप भावना जो तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण है यह 7वीं परीक्षा है। सातवें तत्त्व की अपेक्षा कहें तो सातवाँ तत्त्व होता है मोक्ष। यह अर्द्धपरीक्षा की उपांत परीक्षा है। इस तप की परीक्षा में पास हुये बिना कोई भी तीर्थंकर नहीं बनता है। चाहे वह गृहस्थ (श्रावक) अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर रहा हो क्योंकि जैनागम में कहा गया है कि तीर्थंकर प्रकृति का बंध श्रमण भी कर

सकता है और श्रावक भी कर सकता है किन्तु ध्यान रखना जिस श्रावक ने पूर्वभव में तपस्या की है, मुनि बना है वही देव अवस्था से च्युत होकर के मनुष्य बनकर के तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकता है। पूर्व में त्याग, तपस्या, साधना नहीं की तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकता। ये नहीं सोच लेना कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मनुष्य बन गया और सोलहकारण भावना भा ली। नहीं, कभी नहीं, वह तीर्थंकर नहीं बन सकता, उसके लिये साधना चाहिये, भावना चाहिये, त्याग चाहिये, तप चाहिये। और एक तप नहीं जैसे सोने को 16 ताप से तपाया जाता है, यहाँ बारह तप हैं-छः अंतरंग तप और छः बहिरंग तप। अंतरंग तप साध्य हैं बहिरंग तप साधन हैं।

पहले बहिरंग तप हैं क्योंकि अनादिकाल से व्यक्ति के मन में विषयों की आकांक्षा होती है, तो पहले तो तपस्वी का भेष स्वीकार करें अर्थात् शरीर के सुखों का परित्याग करें, घर-मित्रों का, स्वजन-परिजन का त्याग करें, सबसे नेह, राग-द्वेष का त्यागकर, मोह आदि सबको छोड़कर के फिर स्वयं को एकाकी मानकर के वह चाहे ग्राम, जंगल, शहर कहीं भी रहे यदि त्याग करके रहता है तो उसके लिये वही निर्जन है। सब जन उसके लिये एक समान हैं, उसका अपना कोई स्वजन नहीं है। पुनः वह अपनी रसना इन्द्रिय को जीतने का प्रयास करता है। इसे नियंत्रण करना बड़ा कठिन है।

दो इन्द्रियाँ ज्यादा परेशान करती हैं एक तो चार अंगुल की रसना और चार अंगुल का स्पर्श। चार अंगुल की नासिका जीती जा सकती है, ढाई अंगुल की आँख व कान को जीतना सरल है। आँख को बंद किया जा सकता है, कानों को भी बंद किया जा सकता है, घ्राण से भी न सूंघो तो चल जाता है किन्तु जब मन विकृत होता है तब मन को रोक पाना बहुत कठिन होता है। आहार कर रहे हैं तो, नहीं कर रहे हैं तो, मन में अनेक विकल्पों का आना, उन विकल्पों को, मन की इच्छाओं को रोकना बहुत कठिन होता है। मन कह रहा है

आज आहार में यह वस्तु लूँ तत्काल ही उस इच्छा का निरोध करना कि आज मेरा उपवास, फिर यदि भावना आ गयी कि आज आहार बहुत अच्छा बना है चार ग्रास ज्यादा ले लो, मन कहता है 4 ग्रास ज्यादा लो तो मन को रोको आज मैं 4 ग्रास कम लूँगा अर्थात् आज मैं ऊनोदर करूँगा इस प्रकार से स्वयं-स्वयं की परीक्षा लो। अगला कहा रस परित्याग। मन न माने नाना रसों को ग्रहण करना चाहे तो मन को और बाँधो आज मैं नीरस ही आहार लूँगा।

महानुभाव ! बड़े समाधिमरण में आपने पढ़ा होगा धर्मघोष मुनिराज के विषय में **''एक मास की कर मर्यादा तृषा दुःख सह गाढ़ो''।** धर्मघोष मुनिराज जो उग्र तपस्वी थे वे मुनिपुंगव एक-एक मास के उपवास धारण कर सकते थे। एक समय वे 1 मास का उपवास ग्रहण कर चम्पानगरी के किसी बाह्य उद्यान में ठहर गये। अवधि समाप्त होने पर पारणा के लिये नगरी में गये। पुनः पारणा कर जब वन की ओर लौट रहे थे तब मार्ग भूल जाने से भटक गये। उन्हें काफी दूर चलना पड़ा तीव्र धूप व कठिन राह जिसमें कहीं काँटे तो कहीं कंकड आदि बिछे हुये थे उन्हें पीड़ा हो रही थी फिर भी समता पूर्वक कदम बढ़ाते चले जा रहे थे। वह बहुत थके गये थे जिससे उनका कण्ठ सूखने लगा प्यास सताने लगी।

विश्रान्ति की दृष्टि से वे गंगा तट पर किसी वृक्ष के नीचे जाकर विराजमान हो गये। प्यास से व्याकुल, तृषा से व्यथित होने पर भी वे मुनिराज अविचल थे। उनकी सौम्य मुद्रा व तप के प्रभाव से गंगा देवी निर्दोष शीतलजल से भरा पात्र लेकर उपस्थित हो गई और मधुर वाणी में कहने लगी-हे योगीश्वर ! आप एक महीने के उपवास ग्रहण किये हुये थे। अब देखिये आपका कण्ठ श्रम व धूप दोनों के कारण सूख रहा है। लीजिये मैं आपके लिये शीतल जल लायी हूँ इसे स्वीकार कर तृषा का परिहार कीजिये।

मुनिराज ने कहा कि हे देवी ! तूने अपना कर्त्तव्य पालन किया यह तुम्हारे लिये उचित था किन्तु मैं भी अपना कर्त्तव्य पालन करता हूँ उसे मैं छोड़ नहीं सकता। देखो देवी ! मुनिजनों को देवोकृत आहार वर्जित है वे उसे ग्रहण नहीं कर सकते और दूसरी बात मुनियों की चर्या विधि सुनिश्चित है। वे दिन में एक बार ही आहार-जल ग्रहण करते हैं। मैं आपका जल स्वीकार नहीं कर सकता। इतना कहकर मुनिराज अपनी आत्मा का चिन्तन करने लगे। उन्होंने 1 माह का उपवास धारण कर लिया क्योंकि आहारोपरान्त वे 1 माह के लिये चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान कर चुके थे।

मुनिराज की बात सुनकर देवी को बहुत आश्चर्य हुआ। मुनिराज की दृढ़ता को देखकर वह स्तंभित रह गई और तत्काल विदेह क्षेत्र में जाकर सर्वज्ञदेव को नमस्कार कर कहने लगी-भगवन्! मैंने ध र्मघोष मुनिराज के दर्शन किये, वे कठोर तपस्वी हैं। उन्होंने 1 माह के उपवासोपरान्त पारणा कर फिर 1 माह का उपवास धारण किया है। उनका कण्ठ प्यास से चिपक रहा है। मैं शुद्ध जल लेकर उनके पास पहुँची तो उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया और वे ध्यान में लीन हो गये हैं कृपया मेरी शंका का समाधान करें कि उन्होंने मेरे हाथ का जल क्यों नहीं लिया?

भगवन् की दिव्य ध्वनि खिरी बताया कि मुनिजन देव जाति द्वारा दिया गया आहार ग्रहण नहीं करते क्योंकि देव असंयमी होते हैं अत: वे आहारदान के पात्र नहीं होते। भगवन् के वचनों से संतुष्ट हो देवी निरुपाय हो गई और वहाँ से लौटकर दया और परोपकार की भावना से मुनि को देखा कि वे अपनी चर्या में दृढ़ हैं और सूर्य अपना प्रखर ताप बिखेर रहा है तब उसने मुनिराज के चारों तरफ शीतल सुगन्धित जल की वृष्टि शुरू कर दी जिससे मुनिराज को कुछ शान्ति मिली। देवी अपना कर्त्तव्य पूरा कर अन्तर्ध्यान हो गई। इधर मुनिराज की दृढ़ चर्या, ध्यान जिससे उनकी विशुद्धि बढ़ती चली गई वे समतारस को

पी रहे थे-सहनशीलता की प्रतिमूर्ति वे मुनिराज मानो मुक्ति का ही वरण करने जा रहे हों तभी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई उन्होंने मुक्ति श्री का वरण किया और वे अन्त:कृत केवली हो गये। धन्य हैं ऐसे मुनिवर और उनके तप बल को।

महानुभाव ! आपने आचार्य शान्ति सागर जी के बारे में भी सुना होगा जिन्होंने अपने जीवन में लगभग 10,000 उपवास किये। सिंहनिष्क्रीड़ित, चारित्रशुद्धि, कर्म दहन आदि। तपस्वी सम्राट आचार्य सन्मति सागर जी महाराज जिन्होंने अपने जीवन में 10 हजार से ज्यादा निर्जल उपवास किए।

आचार्य श्री शान्ति सागर जी महाराज इच्छाओं का निरोध करने के लिये चातुर्मास में चार-चार महीने के लिये षट्रस का त्याग कर नीरस आहार ग्रहण करते थे। फिर बाद में उन्होंने सिर्फ दूध व चावल ही आहार में लेने का नियम रखा। महानुभाव! आचार्य भगवन् अंकलीकर श्री आदि सागर जी महाराज जिन्होंने दीक्षा उपरान्त सात उपवास एक आहार का नियम समाधि पर्यन्त निभाया। आचार्य श्री विमल सागर जी जिन्होंने लगभग दस हजार उपवास किये जो प्रत्येक चातुर्मास में 1 आहार 1 उपवास करते थे। 11 वर्ष तक अन्न का पूर्ण रूप से त्याग रखा सिर्फ फलाहार ही करते थे जिन्होंने दीक्षा तिथि से समाधि तक तीनों दशलक्षण पर्व, सोलह कारण व्रत व तीनों अष्टाह्निका में फलाहार ही किया। जिनका घी, नमक, दही, तेल का त्याग था अपने मन एवं इन्द्रियों का निग्रह जिन्होंने पूर्ण रूप से किया। आचार्य श्री सन्मति सागर जी उन्होंने भी लगभग जीवन के अन्तिम 10 वर्ष सिर्फ पानी, मट्ठा लेकर व्यतीत किये बाकी सभी वस्तुओं का जिनका त्याग था धन्य है ऐसे मुनिराजों के लिये जिन्होंने ऐसे-ऐसे तपों को करके अपना मोक्ष मार्ग प्रशस्त किया है।

अगला तप कहा वृत्ति परिसंख्यान आहार के लिये यदि मेरे भाग्य में होगा तो ही मैं ग्रहण करूँगा इसलिये चर्या हेतु वृत्ति लेकर निकलना

कि आज मैं पाँच घर तक ही जाऊँगा यदि वहाँ तक कोई पड़गाहन करेगा तो ही आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। अमुक विधि लेकर, अटपटी प्रतिज्ञा लेकर जाता है वृत्ति का परिसंख्यान कर लेता है।

महानुभाव ! एक बार चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने कोन्नूर में वृत्ति परिसंख्यान तप के अन्तर्गत प्रतिज्ञा की कि यदि मिट्टी के बर्तन पर नारियल रखकर कोई पड़गाहेगा तो मैं आहार करूँगा। छह दिन बाद सातवें दिन उनकी विधि मिली छह उपवास के बाद सातवें दिन एक गृहस्थ भीमप्पा के यहाँ उनका आहार हुआ। वे ऐसी अटपटी विधि लेकर निकलते थे, एक बार प्रतिज्ञा की कि ''जमीन पर हीरे-मोती पड़े हों तो आहार ग्रहण करेंगे''। तब भी एक सप्ताह से अधिक दिन का उपवास हो गया फिर विधि मिलने पर आहार हुआ। ऐसे ही निमित्तज्ञानी आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज जिन्होंने एक समय जब वे इन्दौर में थे तब प्रतिज्ञा की कि यदि तीन सुहागन स्त्रियाँ तीन-तीन कलश सिर पर रखकर पड़गाहन करेंगी तभी आहार करेंगे और 8 दिन तक उनकी विधि नहीं मिली पूरे शहर में हलचल मच गई ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा लेकर इन्द्रियों को वश में करना वीरों का काम है इसीलिये जैन धर्म क्षत्रियों का, वीरों का धर्म कहा गया है कायरों का नहीं। नवें दिन जाकर एक पुण्यशाली सेठ श्री कँवरलाल कासलीवाल जी के यहाँ मुनिराज का निरन्तराय आहार हुआ।

मन की तरंगे मार ले बस हो गया भजन
आदत बुरी सुधार ले बस हो गया भजन।

महानुभाव ! यह तप और कुछ भी नहीं, इस मन की तरंगों को मार लेने का नाम है तप। इन्द्रियों के वक्र स्वभाव को नियंत्रित करने का नाम है तप। यह एक ऐसा रथ है जिसमें पाँच घोड़े जुत रहे हैं मन रूपी जिसका सारथी है तथा जिसमें आत्मारूपी सवारी सवार है अब कैसे नियंत्रित किया जाये। उस सारथी की चोटी पकड़ो जिस

सारथी के हाथ में पाँचों घोड़ों की लगाम है। अर्थात् इस मन को नियंत्रित करो तो इन्द्रियाँ अपने आप नियंत्रित होती हैं। एक-एक इन्द्रिय को नियंत्रित करने में थक जाओगे। यदि आँख बंद भी कर ली तो मन में बुरे विचार आ सकते हैं या कान बंद कर लिये तब भी मन विकृत हो रहा है मन तो बहुत कुछ पाप कर सकता है इसलिये मन को मारना है। मन की दिशा बदल दी तो इन्द्रिय रूपी घोड़ों की दशा स्वयं बदल जायेगी इसलिये उस मन पर काबू पाने के लिये वृत्ति-परिसंख्यान तप किया जाता है।

शरीर कहता है सुन्दर लगे, कोमल शय्या मिले तो पुनः नियम ले लिया विविक्तशय्यासन। महानुभाव ! आचार्य भगवन् शान्ति सागर जी महाराज घण्टों-घण्टों शीर्षासन लगाकर सामायिक करते थे। आचार्य श्री नेमिसागर जी महाराज जो कठोर पृथ्वी, कठोर चट्टान, पाटे पर गोडासन लगाकर (अर्थात् जिसमें घुटनों के बल खड़े होकर आसन लगाते हैं) दो-दो घण्टे इसी आसन से सामायिक करते थे। आचार्यश्री नेमीसागर जी महाराज 2-3 घण्टे तक तीव्रधूप में बैठकर तो कभी सर्दियों की रात में छत पर जाकर 2-2 घण्टे तक सामायिक, ध्यान आदि करते थे। आचार्य महावीर कीर्ति जी जो रात्रि को ठण्डी के समय पूरी-पूरी रात छत पर ध्यान करते हुये कायक्लेश तप का अभ्यास करते थे। आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज भीषण सर्दी में भी चटाई घास आदि नहीं लेते थे और अग्निधारणा का ध्यान लगाकर-पूरी-पूरी रात निकाल देते थे। ऐसे तप करने वाले मुनिजनों के लिये धन्य है जिन्होंने अपने मानव जीवन को सफल व सार्थक किया।

यदि आसन लगाने पर कष्ट होता है, शयन करने पर कष्ट होता है, लकड़ी का पाटा, चटाई आदि चुभता है तो कोई बात नहीं। अरे अनादि से इन कोमल शय्या को ग्रहण किया है किन्तु अब कठोर बनना है। शरीर मेरा है ही नहीं इसका जो कुछ होना है सो होता रहे

आत्मा का परिणाम खराब न हो जाये। चाहे दोना खराब हो जाये फट जाये किन्तु उसमें रखी मिठाई खराब न हो जाये। यह शरीर तो बाह्य पैकेट है इसके अंदर रखा माल है मेरी आत्मा। वह आत्मा खराब न हो जाये। व्यक्ति जिन्दगी भर पैकेट को संभालता रहता है उसमें रखी वस्तुऐं सड़ जाती हैं। अरे! ऐसा कार्य करने वाले मूर्ख कहलाते हैं। तपस्वी वस्तु को संभालता है पैकेट को नहीं। कुशल जौहरी वह कहलाता है जो रत्नों की देखभाल करता है रत्नों के पिटारे की नहीं। पिटारे को देखता रहे और रत्न ही उसमें से गायब हो जायें तो क्या फायदा। इसी तरह से वह आसन संबंधी कष्टों को समता से सहन करता है। फिर वह करता है 'कायक्लेश'।

शरीर कहता है थोड़ा छाया में बैठ जाऊँ किन्तु नहीं अब तो मैं धूप में बैठूँगा। शरीर कहता है थोड़ा धूप में बैठ जाऊँ तो नहीं अब मैं छाया में बैठूँगा। शरीर को कष्ट देते हुये भी अपने मन में समता का भाव रखना यह कायक्लेश तप है। इस तरह से एक साधक/योगी अपनी परीक्षा अपने आप लेता है, अपने आप अपनी परीक्षा लेना और उसमें पास हो जाना बड़ा कठिन है जब कोई टीचर अपने विद्यार्थी को कह दे कि ये प्रश्नपत्र है और ये पुस्तकें हैं जिसमें उत्तर मिल जायेंगे फिर उस विद्यार्थी का नकल करने का भाव नहीं आना, अपने आप परीक्षा देकर के पास हो जाना, स्वयं कॉपी चेक करना और ईमानदारी का परिचय देना यह बहुत कठिन होता है। टीचर के सामने विद्यार्थी नकल न करे ये बात तो समझ में आती है किन्तु टीचर न हो तब भी नकल न करे, यदि पुस्तकें सामने न हों तो नकल न करे तो ये बात समझ आती है किन्तु पुस्तकें सामने रखी हों तो भी नकल न करे। यदि उत्तर आ रहा हो तो नकल न करे बात समझ आती है किन्तु जब उत्तर आ ही नहीं रहा हो तब भी नकल न करे तो बात समझ में नहीं आती। तो साधक ऐसा होता है कि सब प्रतिकूलताओं में भी अनुकूलताओं को खोजने का प्रयास करता है।

यदि इसमें कहीं चूक हो जाती है तो स्वयं प्रायश्चित्त 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडं' करता है।

इसके उपरांत उससे फिर कहीं चूक हो जाती है गुणों की भक्ति, विनय आदि नहीं हो पाती है तो विनय धारण करता है। सम्यक्त्व के प्रति, सम्यग्ज्ञान के प्रति, सम्यग्चारित्र के प्रति बहुत न्रम होता जाता है। फिर इतने में ही वह अपनी साधना से संतुष्ट नहीं होता, अपनी साधना का अहंकार नहीं करता अन्य साधकों की सेवा करता है, वैय्यावृत्ति करता है। चाहे आज का ही दीक्षित मुनि क्यों न हो फिर भी 100 साल का दीक्षित साधु छोटे मुनि महाराज के पास पहुँच गया, उसकी सेवा कर रहा है। उसके अंदर उसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र दिखायी दे रहा है। अहंकार का भाव नहीं है कि मैं इतने दीर्घ काल का दीक्षित इस छोटे की सेवा करूँगा।

इसके उपरांत शेष समय मिलता है तो स्वाध्याय आत्मचिंतन में लीन हो गया। किसी ने पूछा-गर्मी के दिन व सर्दी की रातें इतनी लम्बी क्यों होती हैं ? व्यापारी ने कहा नोट गिनने के लिये, किसान ने कहा खेती करने के लिये, सब अलग-अलग उत्तर दे रहे हैं। योगी कहता है-आत्मा का चिंतन करने के लिए। नींद तो 6 घंटे में पूरी हो जाती है बाकी समय में भगवान् का नाम जपो, भक्ति-पाठ-स्तुति करो, धर्मध्यान करो।

यदि स्वाध्याय के उपरांत समय मिले तो 'कायोत्सर्ग'। शरीर से ममत्व का त्याग। बस आत्मा में लीन हो गये। उसके उपरांत समय मिलता है तो तत्त्व का चिंतन करते-करते काया का उत्सर्ग करते-करते जब चित्त एकाग्र हो जायेगा तब ध्यान की दशा प्रारंभ हो जायेगी, उस ध्यान में आत्मा का अनुभव करना। उस चिंतन के माध्यम से जो कुछ भी आत्मा का भोग तैयार किया है उस आत्मा के भोग भोगने का नाम है ध्यान, आत्म ध्यान, निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग की भूमिका। ऐसी परीक्षा जब योगी पूर्व भव में अपनी ले लेता है वही योगी अगले भव में तीर्थंकर प्रकृति का अधिकारी होता है।

उत्तम त्याग के साथ उत्तम तप है, शक्तित:त्याग के साथ शक्तित:तप है। तप भी करना है तो शक्ति के अनुसार करना है। इन्द्रियों को ज्यादा नहीं कसना, इन्द्रियों पर अंकुश रखना है शक्ति के अनुसार। ये इन्द्रियाँ कैसी हैं? ये तो उच्छृंखल हैं भेड-बकरियों की तरह इधर-उधर मुँह मारती हैं और यदि इसे डंडा दिखाकर चलो तो सावधान रहती हैं।

एक राजा ने अपने मंत्रियों को बकरा दे दिया और कहा इस बकरे को खूब खिला कर लाना है जरा भी भूखा न रहे। सभी ने उसे खूब खिलाया और जब उस बकरे को दरबार में लाये तो ज्यों ही राजा ने हरी-हरी घास दिखायी तो बकरा मुँह मारने लगा। एक बूढ़ा मंत्री था उसने सोचा राजा बहुत चालाक है ये हम सबकी परीक्षा ले रहा है कि हमने भरपेट बकरे को खिला दिया तो एक गाँव जमींदारी में देगा और यदि हम हार गये तो हमसे हमारी सम्पत्ति भी छीन लेगा।

उस बूढ़े मंत्री ने उपाय निकाला-और उस बकरे को घर ले गया। बकरे को खूब खिलाता-पिलाता और बाहर हरे-हरे खेतों के बीच में से जब ले जाता तो ज्यों ही बकरा मुँह मारता वह उसको डंडे से मारता। अब बकरे को समझ में आ गया कि मुझे अपने घर के बाहर कुछ भी खाने पीने नहीं मिलेगा। जब बूढ़ा मंत्री बकरे को लेकर दरबार में पहुँचा तब राजा ने उस बकरे की भी परीक्षा ली, राजा ने हरी-हरी घास दिखायी, तो बकरा आँख बंद करके योगी की तरह से बैठ गया, उसे तो मंत्री का डंडा दिखाई दे रहा था। राजा ने चारा, दाना, घास सब कुछ दिखाया किन्तु बकरा तो मानो साध ना में लीन हो गया।

ऐसे ही हमारी इन्द्रियाँ हैं हम इन्द्रियों को जो देना चाहते हैं इसे वही मिलेगा, अन्य कहीं इन इन्द्रियों को नहीं जाना चाहिये, जहाँ भी जायें वहाँ मंत्री की तरह से डंडा मारना चाहिये इन्द्रियाँ स्वयं सही सलामत रहती हैं। इस तरह इन्द्रियों पर नियंत्रण करना यह तप है। इच्छाओं को रोकना तप है। इच्छायें तो निस्सीम हैं अनंत आकाश

की तरह से, इसलिये उत्तम तप भावना में यही बताया गया है कि हम अपनी इच्छाओं को कम करें। जो अपनी इच्छाओं को कम कर सकता है वही दूसरों का उपकार करने में समर्थ होता है। तीर्थंकर प्रभु तब तीर्थंकर बनते हैं जब दूसरों का उपकार करने की भावना रग-रग में समा जाती है, आत्मा के एक-एक प्रदेश में बैठ जाती है।

महानुभाव ! हम चाहते हैं आप भी ऐसी भावना भायें और तीर्थंकर प्रकृति का बंध करें। आप अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों के कल्याण में भी निमित्त बनें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

शक्तितस्तप भावना
(अर्थ सहित श्लोक)

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः।

–सर्वार्थसिद्धि

शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप है।

२. यथाशक्ति मार्गाविरोधि कायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते।

–राजवार्तिक

अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर मार्गा विरोधी कायक्लेशादि करना तप है।

३. स्ववीर्यं प्रकटं कृत्वा द्वादशैव तपांसि सः।
कर्मेन्धनेऽग्निसादृश्यान्यधाद्धोराणि सिद्धये॥८०॥

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

सिद्धि प्राप्त करने के लिए आत्मशक्ति को प्रकट कर कर्मरूपी ईंधन को जलाने के हेतु अग्नि की समानता रखने वाले बारह तप करते हुए निरन्तर शक्तिस्तप भावना का चिन्तवन करते थे।

यथागमं यथावीर्यं कायक्लेशस्तपो भवेत्।

–उत्तरपुराण, सर्ग 63/324

आगम के अनुकूल अपनी शक्ति के अनुसार कायक्लेश करना तप कहलाता है।

४. मार्गाविरुद्धः कायक्लेशस्तपः।

–भावपाहुड टीका

मार्ग से अविरुद्ध कायक्लेश करना शक्तितस्तपभावना है।

अनिगूहितवीर्यस्य हि विशरारू शरीरमशुचि मृतकाभम्।
संयोजयतः कार्ये तपोऽपि मार्गानुगावेशः॥१३८॥

–हरिवंशपुराण, सर्ग–34

शक्ति को नहीं छिपाने वाले एवं विनाशीक, अपवित्र और मृतक के समान शरीर को कार्य में लगाने वाले पुरुष का मोक्षमार्ग के अनुरूप जो उद्यम है वह तप नाम की भावना है।

भव्याः तपसं कुर्युस्ते, स्वेहायाश्च निरोधकम्।
आत्म शोधक-पीयूषं, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

वे भव्य जीव अपनी इच्छा का निरोध करने वाले तप को करें। यह तप आत्मा का शोधन करने वाला अमृत है, जो तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

८. साधु समाधि भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत सोलह कारण भावनाओं में से सात भावनाओं की चर्चा आप सुन चुके हैं, आज अष्टमभावना की चर्चा करते हैं। वह चर्चा भी इसलिये कि वह हमारी चर्या में आ सके। इसका नाम है 'साधुसमाधि भावना'।

साधु कौन होता है ? समाधि क्या है? उसकी भावना क्यों भाना चाहिये ? ये जिज्ञासायें चित्त के धरातल पर अंकुरित हो रही हैं। अंकुरित होती हुयी जिज्ञासाओं को देखकर के समाधान के लिये मन आतुरित होता है। जैसे कोई कृषक अपने खेत में अंकुरित होते हुये बीजों को देखकर बड़ा उल्लसित व उत्साहित, आनंदित व पुलकित होता है वैसे ही जिज्ञासाओं को देखकर योगीपुरुष/ज्ञानी पुरुष भी उल्लसित-पुलकित आनंद से युक्त हो जाते हैं।

साधु कौन है ? 'साधु' शब्द का अर्थ होता है जो साधना करने में संलग्न हैं। साधना क्या है? सहनशीलता का परिचय देना साधना है। सहनशीलता क्या है? न्याय के मार्ग में चलते हुये प्रतिकूलताओं का समता से सामना करना सहनशीलता है। जीवन में कोई भी प्रतिकूलता आ जाये, कितनी भी विषम परिस्थिति आ जाये तब भी अन्याय मार्ग पर कदम नहीं रखना। व्रतों को छोड़कर के, जीवन की मर्यादा संकल्प को तोड़कर के पाप रूप प्रवृत्ति नहीं करना, सावद्य को स्वीकार नहीं करना सहन करते जाना, कितना सहन करना है ? जितना तुम्हारे कर्म का उदय है उतना सहन करना है। दूसरे के कर्म के उदय को तुम सहन नहीं कर सकते और तुम्हारे कर्म के उदय को दूसरा सहन नहीं कर सकता अर्थात् स्वयं को सहन करना है।

सहन तो संसार का प्रत्येक प्राणी करता ही है फिर आपके सहन करने की परिभाषा में क्या अंतर है ? अंतर इतना है कि अज्ञानी व्यक्ति सहन करने में रोता है, दु:खी होता है, परिणामों को संक्लेशित

करता है, आर्त्त-रौद्र परिणाम करता है, आगे-आगे नूतन कर्मों का बंध करता चला जाता है। और हम आपको यह बताना चाहते हैं कि सहन तो करो किन्तु समतामय परिणामों के साथ। यदि आज आपको कुछ खाने को नहीं मिला माना कि आप जंगल में फँस गये तो खाने तो मिलेगा नहीं शाम तक खाने की चिंता कर-करके, रो-रोकर के समय को क्यों व्यतीत कर रहे हो, सुबह से संकल्प ले लो जब तक मुझे भोजन नहीं मिल रहा है तब तक मेरे भोजन का त्याग, तो कम से कम त्याग का फल तो मिले।

किसी भी कर्म का उदय आता है उस समय समता धारण करो।

सुख-दुःख रेखा कर्म की, काट सके ना कोय।
ज्ञानी काटे ज्ञान से मूरख काटे रोय॥

जो रो-रोकर के अपने कर्मों को भोगता है वह अज्ञानी है, मूर्ख है, दीर्घ संसारी है। जो समता भाव के साथ कर्मों को भोगता है वह ज्ञानी है, विवेकी है, चतुर है, योगी है, बुद्धिमान् है।

महानुभाव ! साधु पुरुष का अर्थ होता है भला आदमी। भला आदमी वह होता है जो स्वयं के लिये लाभ प्राप्त करने में समर्थ और दूसरों को लाभ देने में समर्थ है। आत्महित-परहित का लाभ जिसके पास है वास्तव में वही व्यक्ति भला है। जो आत्मा की हानि कर रहा है, दूसरों की हानि कर रहा है वह भला कैसे हो सकता है। साधु पुरुष अर्थात् सद्जन जिसके पास श्रेष्ठता है सम्यक्पना है वह साधुपुरुष है। यदि श्रद्धा में सम्यक्पना आ गया, ज्ञान में सम्यक्पना आ गया और आचरण में असम्यक्पना है तो वह साधु नहीं है। वह सम्यक् जाने, सम्यक माने व सम्यक् करे, सम्यक बोले प्रत्येक क्रिया सम्यक् होना चाहिये। साधु वही कहलाता है जिसके सब कार्य सम्यक् होते हैं और जिसके कार्य सम्यक् होते हैं वही साधु समाधि को प्राप्त कर सकता है। असाधु पुरुष समाधि को प्राप्त नहीं कर सकते।

जो रयणत्तय जुत्तो सो साहु पुरिसो।

जो सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से सहित है वह साधु पुरुष है। जो धर्मध्यान, शुक्लध्यान, रत्नत्रय से सहित है वह साधुपुरुष है। जो अपनी आत्मा के प्रति जागरुक है वह साधु पुरुष है, जो अपना हित करते हुये दूसरों के हित में साधनतम निमित्त है वह साधु पुरुष है और जो ऐसा नहीं कर पाता है उसकी साधुता में कमी है।

महानुभाव ! अब समाधि शब्द को समझते हैं। समाधि है 'बोधि का फल, बोधि क्या है? सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को बोधि कहते हैं। जिसके पास इस रत्नत्रय का वृक्ष होता है उसी पर यह समाधि के फल लगते हैं। फिर ये वृक्ष कैसा है ? सम्यक्त्व जिसकी जड़ है, सम्यक् ज्ञान जिसका तना एवं शाखा उपशाखायें हैं और सम्यक् चारित्र जिसके फूल हैं ऐसा यह वृक्ष है। इन फूलों में तप की सुगंध भरी हुयी है, ऐसा वह साधु रूपी वृक्ष है। उस वृक्ष के फल का नाम है 'समाधि'।

जिसमें बुद्धि सम रूप को प्राप्त हो जाये, समत्व भाव को प्राप्त हो जाये, कहीं भी बुद्धि में ऊर्ध्व और अधोगमन न चले, कहीं भी बुद्धि में राग-द्वेष न रहे, कहीं भी बुद्धि में अनुकूलता- प्रतिकूलता दिखाई न दे। संसार के समस्त पदार्थों के प्रति बुद्धि सम हो जाये चाहे वे चेतन पदार्थ हों या अचेतन पदार्थ हों, वह दशा समाधि की दशा कहलाती है।

चित्त को समाधान मिल जाना ही समाधि कहलाती है। चित्त को समाधान तब मिलता है जब व्यक्ति आधि, व्याधि और उपाधि से रहित हो जाये। जब शरीर में कोई आधि होती है आधि अर्थात् व्यक्ति की मानसिक वेदना या पीड़ा। व्याधि कहलाती है शारीरिक दुःख, कष्ट, रोग या असह्य पीड़ा। उपाधि कहलाती है जिसे सुनकर के मन संतुष्ट होता है, वचनों के द्वारा जिसका संबोधन किया जाता है। जैसे-आप महामहिम हैं, आप आराधनीय, पूज्यनीय श्रद्धेय हैं आदि-आदि इस

प्रकार के उत्तम-उत्तम शब्दों के साथ-साथ जो शब्द आपके लिये कर्णप्रिय लगते हैं वे सभी शब्द उपाधि में गर्भित होते हैं।

जिसे मन में कोई विकल्प या पीड़ा नहीं है, कोई उत्पीड़ा या छटपटाहट नहीं है, आकुलता व्याकुलता नहीं है। मन बिल्कुल शांत हो गया है, जिसके चित्त का विचार शांत हो गया है जैसे जल शांत हो जाता है तो निर्मल हो जाता है जब तक जल चंचल रहता है तब तक जल में मलिनता रहती है। बहता हुआ नदी का पानी यदि वेग से बह रहा है तो उसमें गंदगी बहती हुयी जाती है जब वह ठहरता है या शनैः-शनैः पानी बहता है तो गंदगी जमती चली जाती है। तो जिस योगी का चित्त शांत हो गया है, निर्मल हो गया है, सहज हो गया, स्वभाविक हो गया है ऐसा योगी चित्त की विशुद्धि के माध्यम से अपने शरीर को भी स्वस्थ करने का प्रयत्न करता है। उसके शरीर में जो कष्ट है उस कष्ट को यदि अपना मान रहा है तो चित्त निर्मल न हो सकेगा और चित्त निर्मल हो गया है तो शरीर का कष्ट उसके अनुभव में नहीं आयेगा।

वह सोचता है यह तो पड़ौसी है, और पड़ौसी के घर की दीवार गिर गयी तो मैं आँसू क्यों बहाऊँ ? ये शरीर तो पड़ौसी है इसके घर में किसी ने छेद कर दिया है तो मुझे दुःखी होने की क्या आवश्यकता है? पड़ौसी की झोंपड़ी पुरानी थी सो टूटनी ही थी। शरीर भी पड़ौसी की झोंपड़ी है उस पड़ौसी की झोंपड़ी की व्यवस्था में मुझे अपना जीवन व्यतीत नहीं करना है, मुझे तो अपनी सुध भी लेना है। शरीर का जो कुछ होना है सो होने दो, इसकी चिंता कर लोगे तो अपनी चिंता कब करोगे? तो शरीर की आधि-व्याधि का भी त्याग करो, उसमें रंजायमान मत होओं। क्यों? क्योंकि जब शरीर में अपना उपयोग लगा लोगे तो शरीर का कष्ट तुम्हारे मन का कष्ट बन जायेगा, तुम्हारी आत्मा का कष्ट बन जायेगा, शरीर के कष्ट के कारण तुम अपने मन को निर्मल न बना सकोगे, तुम्हारी चित्त की प्रवृत्ति में शरीर ही शरीर दिखेगा, वही झलकेगा।

जैसे दर्पण रखा है उसके सामने यदि कोई काले वस्त्र पहनकर खड़ा हो जाये तो दर्पण में काले वस्त्र ही झलकेंगे यदि दर्पण नदी किनारे रखा है तो नदी दिखाई देगी, दर्पण के सामने यदि पुष्पों की टोकरी रखी है तो वह दिखाई देगी, जो रखा है सो दिखाई देगा, ऐसे ही मन के दर्पण में, आत्मा के दर्पण में शरीर में कष्ट दिखाई दे रहा है तो पुनः कष्ट ही दिखाई देगा। चित्त के दर्पण में शरीर को रोगी मान लिया तो ऐसा लगेगा कि आत्मा के दर्पण में भी रोग पल रहा है। इतना ही नहीं फिर आत्मा का उपयोग जो आत्मा में लगना चाहिये, आत्मा के लिये लगना चाहिये वह न होकर शरीर में लग गया। किसी व्यापारी को करना तो दुकान का काम था लेकिन उसे छोड़कर वह दुकान के नौकर की सेवा में लग गया। तब तक कुछ व्यक्ति आये और दुकान को लूट कर चले गये। ऐसे ही यह शरीर तो हमारा सेवक है, अरे यह शरीर हमें हमारी आत्मा की सेवा करने के लिये मिला है इस सेवक की सेवा करके हम अपना पतन क्यों करें ? ये बुद्धिमानी नहीं है इसलिये शरीर की पीड़ा को अपनी पीड़ा मत समझो, यह शरीर तो पर है।

इस शरीर के अंदर विद्यमान व्याधि को विकार भाव जानकर के जैसे मन के रोगों को दूर किया था, ऐसे ही शरीर के रोगों को भी दूर कर दो। अपना नहीं मानोगे तो वे रोग तुमसे दूर हो जायेंगे। जब तक तुम जिसे अपना मानते हो तब तक वह तुम्हारे आस-पास, ईर्द-गिर्द दिखायी देता है चाहे मित्र हो या शत्रु। तुम जिसे शत्रु कहते हो वह तुम्हारे आस-पास दिखाई देता है भले ही वह तुमसे कोसों दूर हो। यदि तुमने उसका भय अपने मन में बसा के रखा है तो वह तुम्हें दिखायी देता ही रहेगा और यदि मन से उस शत्रुता का भाव निकाल दोगे तो शत्रु अपने आप निकल जायेगा।

जिस मित्र को तुमने अपने मन में बसा कर रखा है वह हर वक्त तुम्हें तुम्हारे आस-पास मंडराता दिखायी देगा, मन में से निकाल दो तो मित्रता का भाव ही न रहेगा, समभाव हो जायेगा। जिसे तुम बहुत

स्नेह करते हो वह व्यक्ति तुम्हारे पास है या नहीं मन में बैठ गया तो बस वहीं आस-पास दिखाई देता रहेगा। ऐसे ही तुम्हारे मन में शरीर का रोग बैठ गया तो फिर यदि शरीर स्वस्थ भी हो जायेगा तो पुनः मन को स्वस्थ करना बड़ा कठिन हो जायेगा। इसलिये शरीर के रोग को चेतना का रोग मत समझो।

अगला है 'उपाधि'। इन कर्णप्रिय शब्दों में मत पड़ो, तुम कर्णप्रिय मत बनो तुम तो चर्ण (चरण) प्रिय बनो। जो चारित्र प्रिय होता है वह मुक्ति का वरण करने में समर्थ होता है, मुक्ति श्री को भी प्रिय होता है। तो समाधि वही प्राप्त करता है जिसने अपने चित्त का समाधान प्राप्त कर लिया है। समाधि का आशय है ध्यान, समाधि का आशय होता है रत्नत्रय के फल की प्राप्ति।

महानुभाव ! एक समय एक सेठ जो विदेश से धन कमाकर आ रहा था, रास्ते में पडाव डाला एक तम्बू में सारा धन, रत्न रखा हुआ था। अचानक उस तम्बू के आग लग गई, सेठ ने व उसके सेवकों ने आग बुझाने का बहुत प्रयास किया किन्तु तेज आँधी आने के कारण आग नहीं बुझी और बढ़ती ही चली गई तब उस सेठ ने अपने कीमती सामान धन, रत्नों के बक्से उस तम्बू से बाहर निकाल लिये। ठीक उसी प्रकार हमारा ये शरीर भी एक तम्बू (कुटिया) के समान है इसमें भी रत्नत्रय रूपी रत्न आत्मा में विराजमान हैं और जब इसमें आग लगती है जिसे बुझाने में हम समर्थ नहीं (मृत्यु रूपी आग) तब अपनी आत्मा में निहित रत्नत्रय रूपी निधि की सुरक्षा करना ही समाधि कहलाती है। जब शरीर को बचाया न जा सके तब अपने संयम, अपने सम्यक्दर्शन ज्ञान-चारित्र की रक्षा करने के लिये जो ग्रहण की जाती है वही समाधि कहलाती है।

महानुभाव ! सम्यक्त्व की जड़ों में जब जल दिया जाता है तब सम्यक् ज्ञान का तना व शाखायें और मोटी होती चली जाती हैं इतना ही नहीं उस पर और ज्यादा संयम के पुष्प खिलते चले जाते हैं, तप के फलों की, ध्यान व समाधि के फलों की संवृद्धि और होती

चली जाती है, एक से एक सब जुड़े हुये हैं। साधु समाधि का आशय हुआ जो साधु समाधि की साधना करने में समर्थ है उसका सहयोग करना। तुम जैसे सहयोगी बन सकते हो वैसे बनो क्योंकि जिसे स्वयं समाधि को प्राप्त करना है वह दूसरे की समाधि का सही मूल्यांकन कर सकता है। जो समाधि के बारे में नहीं जानता वह क्या समाधि का मूल्यांकन करेगा। जिसके लिये पीतल और सोने में अंतर ही नहीं है वह पीतल को ही सोना मानकर ग्रहण कर लेगा और जिसके पास पीतल ही है वह उसका ही सम्मान करेगा सोने वाले का सम्मान ही नहीं करेगा।

महानुभाव ! साधु समाधि का आशय यही हुआ कि हमें अपने चित्त का समाधान करना है। चित्त का समाधान होगा रत्नत्रय के माध्यम से और उसी से ध्यान की प्राप्ति होगी। वर्तमान में व्यवहार में समाधि शब्द का अर्थ समाधिमरण से भी लिया जाता है। समाधिपूर्वक देह का त्याग कर देना। जो कोई भी साधक समता भावों के साथ अपने शरीर का त्याग करने में संलग्न है, अपने शरीर के प्रति विरक्त होकर साधना करने में संलग्न है उसमें सहयोगी बनो। जो तीर्थंकर प्रकृति का भविष्य में बंध करने जा रहा है या इस भव में बंध करने जा रहा है उसके अंदर ऐसी भावना होनी चाहिये कि वह दूसरे की साध ना में सहयोगी बने। कौन सी साधना में ? ध्यान की साधना में। क्यों बने सहयोगी ? क्योंकि वह भी इसी का इच्छुक है।

जो किसान अपने खेत में ईख बोना चाहता है वह दूसरे की ईख में आग नहीं लगाता वह दूसरों के ईख की भी रखवाली करता है, वह स्वयं के फलों की सुरक्षा के लिये दूसरों के खेत में पक्षी नहीं छोड़ता है। उसे पता है आज पक्षी वहाँ छोड़ूँगा तो कल मेरे यहाँ भी आ सकता है। कोई किसान अपने खेत की सिंचाई करता है तो सामने वाले के खेत की मेंढ को तोड़ता नहीं वह कहता है न्याय का पाठ सीखो। ऐसे ही जो साधु समाधि की साधना कर रहा है तो स्वयं की समाधि का इच्छुक उसमें सहयोगी बनता है।

समाधि में सहयोग कैसे प्राप्त हो सकता है? हम समाधि की प्राप्ति कैसे करें ? इसके बड़े अच्छे उपाय हैं यदि आप भी समाधि की भावना भाते हो तो एक काम करना है। पर्व के दिनों में (अष्टमी/चतुर्दशी) उपवास करो, प्रथमानुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करो, वैराग्य की निरंतर संवृद्धि करो इसके साथ-साथ साधु पुरुषों की वैयावृत्ति करो, जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करो। आर्य पुरुषों की संगति करो और आत्मा का चिंतन करो इनके माध्यम से साधु पद की प्राप्ति होती है और साधुता के फल समाधि की प्राप्ति होती है। यह भी एक परीक्षा है। कौन व्यक्ति ऐसा है जो दूसरों के विकास में, उन्नति में सहयोगी बन सकता है, दूसरों को आगे बढ़ाने में सहयोगी बनता है उसे भी आगे बढ़ने में सहयोग मिल जाता है।

साधु समाधि भावना का आशय यह है कि निरंतर ये भावना भाते रहो कि हमें साधुता की प्राप्ति हो। मेरे चित्त का समाधान हो जाये, मेरे चित्त की वृत्ति स्थिर व सम रूप से हो जाये, समत्व को प्राप्त करना ही समाधि को प्राप्त करना है। जो भी योगी पुरुष इस समाधि साधना में लीन हैं, उनकी सेवा में अपना ध्यान लगाना, उन जैसे बनने की भावना भाना है कि मैं भी ऐसी समाधि लगाऊँ, मैं भी ऐसे लीन हो जाऊँ यही है साधु समाधि भावना, यही है सज्जनता को प्राप्त करने की भावना, यही है साधुता को प्राप्त करने की पगडंडी और यही है आत्मकल्याण का मार्ग।

यह भावना नि:संदेह स्व कल्याण के साथ-साथ पर कल्याण करने में निमित्त बनती है इसीलिये इसे तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत माना है। आप सभी इनका चिंतवन करें जिससे आपका चित्त विशुद्ध हो, चित्त में साधुता का आविर्भाव हो तुम्हारा चित्त भी आकुलता व्याकुलता, व्यग्रता, उद्वेग, आवेगों से निर्मुक्त होकर समत्व को प्राप्त कर सके मैं आपके लिये ऐसी शुभ भावना भाता हूँ और इन्हीं भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

साधुसमाधि भावना
(अर्थ सहित श्लोक)

यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं समाधिः।

(सर्वार्थसिद्धि, आ. पूज्यपाद स्वामी)

जैसे भाण्डागार में आग लग जाने पर बहुत उपकारी होने से आग को शान्त किया जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न के उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना शान्त करना समाधि है।

२. मुनिगणतपः संधारणं साधुसमाधिः।

(भावपाहुड टीका)

मुनि-समूह को तप में धारण करना अर्थात् उनके तपश्चरण में आये हुए विघ्नों को दूर करना साधु-समाधि है।

३. साहूणं समाहिसंधारणदाए-दंसण-णाण-चरित्तेसु सम्मवट्टाणं समाही णाम।

(धवला जी पु. 8)

साधुओं की समाधि संधारणा से तीर्थंकर नामकर्म बाँधता है-दर्शन, ज्ञान व चारित्र में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है।

४. असमाधिमतां साधूनां च प्रत्यूहसंस्थितैः।
शुश्रूषागमदेशैः साधुसमाधिं सदाभजत्॥८१॥

(श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्)

विघ्न के उपस्थित होने पर असमाधियुक्त साधुओं की सेवा तथा आगम के उपदेश द्वारा मुनिराज सदा साधु समाधि को प्राप्त होते थे अर्थात् साधुओं की अच्छी तरह सेवा करते हुए साधु समाधि भावना का पालन करते थे।

५. कदाचिन्मुनिसङ्घस्य बाह्याभ्यन्तरहेतुभिः।
सन्धारणं समाधिः स्यात्प्रत्यूहे तपसः सति॥६३/३२५

(उत्तर पुराण)

किसी प्रकार बाह्य और अन्तरंग कारणों से मुनिसंघ के तपश्चरण में विघ्न उपस्थित होने पर मुनिसंघ की रक्षा करना साधुसमाधि है।

आधि-व्याधिमुपाधिञ्च, त्यक्त्वा सर्व विकल्पकम्।
साधु-समाधि-भावेयुः, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

आधि (मानसिक रोग) व्याधि (शारीरिक रोग) और उपाधि तथा सभी विकल्प को त्यागकर साधुसमाधि को भावें। यह तीर्थंकर प्रकृति की कारण है।

भाण्डागारहुताशोपशमन वज्जातविघ्नमनुपद्य।
संधारणं हि तपसः साधूनां स्यात्समाधिरिह॥१३९॥

–हरिवंश पुराण, सर्ग–34

भण्डार में लगी हुई अग्नि को उपशान्त करने के समान आगत विघ्नों को नष्टकर साधुजनों के तप की रक्षा करना सो साधुसमाधि नाम की भावना है।

यथा भाण्डागारे दग्धे समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात् तथा अनेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चिक्षत् प्रत्यूहे समुत्थिते तत्संधारणं समाधिरिति समाख्यायते।

–तत्त्वार्थवार्तिकम, आ. अकलंकदेवस्वामी

जैसे भण्डार में आग लगने पर वह प्रयत्नपूर्वक शान्त की जाती है उसी तरह अनेक व्रतशीलों से समृद्ध मुनिगण के तप आदि में यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जाये तो उसका निवारण करना साधु समाधि है।

९. वैयावृत्ति भावना

महानुभाव! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत षोडशकारण भावनाओं के संबंध में चर्चा कर रहे थे। ऐसे कौन-कौन से उपाय हैं जिनके माध्यम से हम स्व-पर कल्याणकारक पद को प्राप्त कर सकते हैं। जिसको जो चाहिये उसके लिये वह समस्त आवश्यक सामग्री को प्राप्त करता है। माना कि एक विद्यार्थी अधिक से अधिक अंक प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार की पुस्तकें पढ़ता है, कभी अध्यापक से मिलता है तो कभी मित्रों से मिलता है, कभी मूल लेखकों की पुस्तकें पढ़ता है तो कभी अन्यों की जिससे अच्छे से अच्छे अंक प्राप्त कर सके। उसी प्रकार एक साधक अपनी साधना में सुधार लाने के लिये, वृद्धि करने के लिये नाना प्रकार से अपनी साधना को वृद्धिंगत करता है। कृषक अपनी अच्छी खेती के लिये बार-बार खेत को जोतता है फिर अच्छे से अच्छा बीज बोता है, खाद भी डालता है समय-समय पर जल सिंचन भी करता है, निराई, गुढाई, रखवाली आदि सब कुछ करता है। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के लिये साधु जो कुछ भी संभावित साधन हैं उन सभी साधनों को अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है।

तीर्थंकर प्रकृति के उस निस्सीम वैभव को, उस अपरिमित अभ्युदय को, उस आध्यात्मिक सम्पत्ति को कौन ग्रहण कर सकता है उसकी पहले परीक्षा होती है बिना परीक्षा के प्रमाण पत्र हाथ नहीं आता। अब कौन सी भावना भायी जाये, कैसे विचार किये जाये? विचार तो यही है कि मैं अपनी आत्मा के साथ-साथ दूसरों का कल्याण कैसे करूँ। इसी संदर्भ में भावना है 'वैयावृत्ति भावना'।

वैयावृत्ति का आशय क्या है ? विशेष रूप से व्यावृत्ति करना, निवृत्ति करना, निराकरण करना। किसका? बाधाओं का, कैसी बाधाओं का ? जो साधना में बाधक बन रही हैं, जो धर्म- ध्यान में बाधा डाल रही हैं, जो विघ्न का काम कर रही हैं उन्हें दूर करना उनका

निराकरण करना। व्यावृत्ति किसकी ? प्रतिकूलताओं की, खेद की, श्रम की, क्लान्त शरीर की थकान दूर करके जिससे शरीर में उत्साह आये। वैयावृत्ति क्या इतना अच्छा गुण है ? हाँ वैयावृत्ति है बहुत बड़ी चीज जिसे करने के लिये बहुत पहले से प्रयास करना पड़ता है। जब श्रावक अव्रती होता है व्रत और प्रतिमाओं को ग्रहण नहीं करता उस समय से उसे संस्कार दिये जाते हैं, पहले देव-शास्त्र-गुरु की सेवा-भक्ति करो, पूजार्चना करो। सेवासुश्रुषा की बात ही वैयावृत्ति की बात है इसे और पक्का करने के लिये आचार्यों ने दो आवश्यक कहे दान और पूजा। दो ही कहे तो उसमें पहला कहा दान जो कि वैयावृत्ति का एक अंग है।

दाणंपूया-सील-मुववासो सावय धम्मो-यहाँ भी पहले दान को रखा। दान, पूजा भी वैयावृत्ति का अंग है। जहाँ पर श्रावक के छः आवश्यक कहे देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इसमें जो श्रावक के तीन कर्त्तव्य हैं देवपूजा, गुरुपास्ति व दान ये वैयावृत्ति ही हैं तथा गुरु के पास पहुँचकर के साधु के उपदेश सुनना स्वाध्याय है यह भी वैयावृत्ति है क्योंकि इसे सुनकर विशुद्धि बढ़ती है व इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है। इतने पर भी संतोष नहीं हुआ अभी वैयावृत्ति का विस्तार और करते चले जा रहे हैं। जब वह श्रावक व्रती श्रावक बनता है प्रतिमाधारी बनता है तब उसे पहले बारह व्रतों का पालन करना होता है। 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत और 4 शिक्षाव्रत।

चार शिक्षाव्रतों का जहाँ कथन किया है जो व्रत महाव्रती बनने की शिक्षा देते हैं उन शिक्षाव्रतों में वैयावृत्ति के नाम से एक व्रत है, कहीं अतिथि संविभाग के नाम से एक व्रत है। चाहे अन्य शिक्षाव्रतों में अंतर हो भोगोपभोगपरिमाण व्रत हो, सामायिक हो, प्रोषध हो चाहे सल्लेखना को लिया हो किन्तु प्रायःकर के सभी आचार्यों ने वैयावृत्ति व अतिथिसंविभाग को अवश्य लिया है। जब इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ, वैयावृत्ति को और आगे बढ़ा दिया। यदि तपस्या

करने लगे महाव्रती बन गये, मुनि, उपाध्याय भी बन गये तब भी वैयावृत्ति आवश्यक है।

वैयावृत्ति के लिये कहा कि जब भी साधक आहार करता है उस आहार ग्रहण करने के छः कारणों में से एक कारण कहा वैयावृत्ति। यदि आहार करते हो तो जीवरक्षा के लिये, दयाधर्म का पालन करने के लिये, दसधर्म का पालन करने के लिये, क्षुधा निवृत्ति के लिये, संयमवृद्धि के लिये व साधुओं की सेवा वैयावृत्ति इन कारणों के लिये आहार करो। इतना कह दिया कि आहार किया है तो वैयावृत्ति करनी पड़ेगी। दूसरों की साधना में साधक बनो तब आहार करो।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अन्य व्रतों की व्याख्या करने में एक-एक श्लोक कहा किन्तु जब वैयावृत्ति का नंबर आया तो एक नहीं दो नहीं कम से कम 10-12 श्लोक लिखे। इतने विस्तार से कथन किया। और तो और तीर्थंकर प्रभु ने कहा-तुम साधु बन गये उत्तरगुणों का पालन करो वैयावृत्ति करो। अंतरंग तप के अन्तर्गत वैयावृत्ति को निहित किया गया है। उपाध्याय बन गये तब भी वैयावृत्ति करो आचार्य बन गये तब भी वैयावृत्ति करो वह आचार्य के 36 मूलगुणों के अन्तर्गत आता है इतना ही नहीं कोई निरीह साधु बन जाये, एकाकी बन गये, उत्तम संहनन का धारक हो उसके लिये भी कह दिया वैयावृत्ति करने की भावना भाओ यदि तीर्थंकर बनना चाहते हो तो।

वैयावृत्ति करने का क्रम तब से प्रारंभ होता है जब वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयमी श्रावक मंदिर तक नहीं जाता है, उस समय से उसके माता-पिता उनसे कहते हैं बेटा जाओ, महाराज जी आये हुये हैं उनकी सेवा, वैयावृत्ति आदि करके आओ उसके उपरांत तब उन बालकों का मन करता है मंदिर जाने का, आगे बढ़ने का। वैयावृत्ति का क्रम कब तक चलता है ? आचार्य, उपाध्याय, साधु भी बने, एकाकी ध्यानलीन हो समाधि में भी बैठ गये तब भी ध्यान में बैठे-बैठे

भी यदि तुम्हारे ध्यान में विकल्प आये तो या तो अर्हद्भक्ति का आये या साधुओं की सेवा का विकल्प आये। अन्य विकल्पों में नहीं जाना चाहिये।

साधु की उत्तम औषधि व निर्मल मन द्वारा सेवा करना, उनकी साधना में आने वाले बाधकतम कारणों को दूर करना वैयावृत्ति है। चाहे वह वैयावृत्ति उनके शरीर (हाथ-पैर) दबाकर उनकी थकान दूर करने रूप हो अथवा कहीं प्रकृति के प्रकोप से पित्त-कफ आदि कुपित हो रहे हैं तो उन्हें उत्तम औषधि दे दो।

महानुभाव ! श्री कृष्ण नारायण जिस समय द्वारिका में राज्य कर रहे थे उस समय वहाँ एक मुनिराज का आगमन हुआ जिनका शरीर किसी रोग से ग्रस्त था। श्रीकृष्ण को मुनिराज की रुग्णावस्था देखकर बहुत दुःख हुआ और उन्हें ये चिन्ता सताने लगी कि किस तरह मुनिराज के रोग को दूर किया जाये। तभी उन्होंने एक वैद्य से परामर्श कर औषधि युक्त लड्डू बनवाये और उन लड्डूओं को पूरे नगर में बँटवा दिया ताकि मुनिराज का आहार जहाँ कहीं भी हो उन्हें औषधि चल सके इस तरह से मुनिराज का जहाँ भी आहार होता उन्हें आहार में औषधि युक्त लड्डू भी दिये जाते और धीरे-धीरे श्रीकृष्ण की भावना और औषधि ने अपना प्रभाव दिखाया और मुनिराज पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गये। श्रीकृष्ण के द्वारा इस भावना से कि मुनिराज स्वस्थ हो जायें उनके रत्नत्रय का पालन निर्विघ्न हो की गई वैयावृत्ति से कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण आगे जाकर 16वें नम्बर के तीर्थंकर होंगे ऐसा त्रिलोकसार में भी उल्लेख मिलता है।

ज्ञान तप की वृद्धि हेतु स्वाध्याय के लिये शास्त्र भेंट करना भी वैयावृत्ति है। जिसने एक ग्रास आहार दान दिया है तो ऐसा जीव उत्तम भोगभूमि को प्राप्त कर सकता है। यदि एक बार भी शुद्ध मनोभावों से चारों प्रकार के दानों को अथवा सेवा आदि को किया है तो उस पुण्य का अचिंत्य फल है।

सुभग ग्वाले ने एक रात मात्र मुनिराज की सेवा की थी, अगले भव में वह सुभग ग्वाला सुदर्शन सेठ बना जो कि कामदेव जैसा सुंदर था और उसी भव से मोक्ष भी प्राप्त किया। वैयावृत्ति करने वाला व्यक्ति वज्रवृषभ नाराच संहनन को प्राप्त करता है। पूर्वभव में बाहुबलि भगवान् ने वैयावृत्ति की थी, पूर्वभव में जीवंधर कुमार ने वैयावृत्ति की थी और भी अन्य तीर्थंकरों ने वैयावृत्ति की थी। प्रीतिंकर कुमार ने भी पूर्वभव में वैयावृत्ति की थी, पूर्वभव में हनुमान के जीव ने भी वैयावृत्ति की थी। रामचन्द्र के जीव ने भी वैयावृत्ति की थी एक मरणासन्न बैल को पद्मरुचि सेठ की पर्याय में णमोकार मंत्र सुनाया यह भी उसकी सेवा वैयावृत्ति है, उसके धर्मध्यान की बाधा को दूर करके उसका मन धर्मध्यान में उपस्थित किया यह भी वैयावृत्ति है।

वैयावृत्ति तीन प्रकार से की जाती है। एक शरीर से, एक वचनों से और एक मन से चौथी प्रकार की यदि मानना चाहें तो वह है सामग्री (धनादि) से। धन व्यय करके वैयावृत्ति करना दूर की वैयावृत्ति है, सामग्री आदि देकर वैयावृत्ति करना दूर की वैयावृत्ति है और जिस वस्तु की आवश्यकता है उसको देना यह निकट की वैयावृत्ति है। भले ही हाथ नहीं लगाना किन्तु उचित समय पर अनुकूल वस्तु को देना निकट वैयावृत्ति है।

सबसे श्रेष्ठ मानसिक वैयावृत्ति है, फिर वाचनिक, फिर कायिक और अन्त में उचित सामग्री देकर अपने धन द्वारा वैयावृत्ति करना है। धन देकर जो वैयावृत्ति की जाती है उससे पुण्य कम मिल पाता है, उचित साधन-सामग्री देकर जो वैयावत्ति की जाती है उससे पुण्य तुलना से अधिक मिलता है। यदि आवश्यकता है तो शरीर से सेवा करना अर्थात् जिस प्रकार अध्यापक अपने सबसे कमजोर विद्यार्थी को अपना निजी समय देकर उसका ध्यान रखता है, एक डॉक्टर अपने सबसे गंभीर मरीज को देखने कई बार आता है, माता-पिता अपने सबसे छोटे बालकों का अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखते हैं, एक

कृषक अपने सबसे कमजोर बैल को अपना सहारा देता है। ऐसे ही हमें भी दूसरे साधर्मी की साधना में सहयोगी बनना है कोई बालमुनि हैं, वृद्धमुनि हैं, रोगी मुनि हैं, अल्पज्ञानी मुनि हैं, अल्पशक्ति के ध ारक हैं। आर्यिका-क्षुल्लिका, ऐलक-क्षुल्लक आदि कोई भी धर्मात्मा है उसकी साधना में अपनी मर्यादा का ध्यान रखते हुये, अपने पद का ध्यान रखते हुये उसके धर्म की सेवा करना, जिसकी शरीर से सेवा कर पाना शक्य है उसकी शरीर से सेवा करना यह वैयावृत्ति है।

शरीर से सेवा करने के उपरांत वचनों के माध्यम से सेवा करना, यदि उसका मन विचलित हो रहा है, डाँवाडोल हो रहा है और आपने उसे संबोधन दे दिया तो आपने उसे पापाश्रव से बचा लिया, आर्त्तरौद्र ध्यान से बचा लिया। वचनों से ऐसी वैयावृत्ति कर दी कि जो शरीर दबाने से भी उसका धर्मध्यान नहीं बन रहा था। ऐसे उत्तम मीठे-मीठे वचन बोल दिये तो वह वचनों के माध्यम से की गई वैयावृत्ति शरीर से की गयी वैयावृत्ति से भी ज्यादा फल देने वाली होती है।

इससे भी अच्छी वैयावृत्ति होती है मानसिक वैयावृत्ति। धन दिया तो भी दिखाई दे रहा है, वस्तु दी तो भी दिखाई दे रही है, वचनों से बोले तो भी दिखाई दे रहा है, शरीर से सेवा की तब भी दिखाई दे रहा है ये चार प्रकार की वैयावृत्ति करके तो मन में अहंकार का भाव भी आ सकता है किन्तु आँख बंद करके, अपने ध्यान में संलग्न जैसे ही उपयोग की धारा टूटी विकल्प आया भी तो यही आया कि हे भगवान् ! संसार के सभी व्यक्ति पापों से मुक्त हो जायें, हे प्रभु! सभी व्यक्ति धर्म ध्यान में लीन रहें, सभी निरोगी रहें, सभी संयमी बनें, संसार में कोई भी जन्म-मरण के दु:खों को न प्राप्त करे जो भी साधना में संलग्न हैं उन सभी की साधना निर्विघ्न रूप से पलती रहे, हे भगवान् ! सभी अपने लक्ष्य को प्राप्त करें।

श्रावक भी भावना भाता है हे प्रभु ! इस ढाईद्वीप में तीन कम नौ करोड़ मुनिराज हो सकते हैं इनमें से जो-जो साधु भी चर्या के

लिये निकल रहे हों उन सभी का आहार अच्छा हो, सबकी साधना अच्छे से हो ऐसी भावना भाता है। आचार्य महोदय भी भावना भाते हैं संसार के प्रत्येक प्राणी धर्मध्यान को प्राप्त हों। प्रत्येक प्राणी मिथ्यात्व का नाश करें, प्रत्येक प्राणी रत्नत्रय रूप बोधि को प्राप्त करें अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हों सबका शुभ हो शांति मिले, आर्त्तध्यान नष्ट हो, महामारी आदि सभी नष्ट हों, क्लेश आदि सबके मिट जायें इस प्रकार की भावना भाना आदि रूप वैयावृत्ति करते हैं।

जो व्यक्ति वैयावृत्ति को यथासंभव, यथोचित समय और स्थान को देखकर के करता है वही प्राणी तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में समर्थ होता है। आप सभी लोग भी अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्ति करो और वैयावृत्ति करने की भावना भाओ इससे आप भी अपनी आत्मा का कल्याण करने के साथ-साथ पर कल्याण में निमित्त बन सकें। ऐसी मैं आपके प्रति मंगल भावना भाता हूँ और इसी के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

वैयावृत्य भावना
(अर्थ सहित श्लोक)

१. गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्।

–सर्वार्थसिद्धिः

गुणी पुरुषों के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उसका दुःख दूर करना वैयावृत्त्य भावना है।

२. व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयाव्रत्यम्।

–धवला जी. पु. 8

व्यापृत अर्थात् रोगादि से व्याकुल साधु के विषय में जो कुछ किया जाता है उसका नाम वैयावृत्त्य है।

३. कायपीडादुष्परिणामव्युदासार्थं कामचेष्टया द्रव्यान्तरेणोपदेशेन च व्यावृतस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्त्यं।

–चारित्रसार

शरीर की पीड़ा अथवा दुष्ट परिणाम को दूर करने के लिए शरीर की चेष्टा से, किसी औषध आदि अन्य द्रव्य से, अथवा उपदेश देकर प्रवृत होना अथवा कोई भी क्रिया करना वैयावृत्त्य है।

४. गुणिनां निरवद्येन विधिना दुःखनिर्वृतिम्।
वैयावृत्त्य क्रिया प्रायः साधनं तपसः परम्॥६३/३२६॥

–उत्तर पुराण

निर्दोष विधि से गुणियों के दुःख दूर करना यह तप का श्रेष्ठ साधन वैयावृत्त्य है।

५. यतीनां त्यक्तसङ्गानां रोगादिपीडितात्मनाम्।
करोति दशधा वैयावृत्त्य योगेन शर्मदम्॥८२॥

–श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

रोगादि से पीड़ित निर्ग्रन्थ साधुओं की सुखदायक दश प्रकार की वैयावृत्ति मन-वचन-काय रूप भोगों से निरन्तर करना उसकी भावना भाना वैयावृत्य भावना है।

६. गुणवतां दुःखोपनिपाते निरवद्यवृत्या तदपनयनं वैयावृत्त्यं।

-भावपाहुड टीका

गुणी मनुष्यों को दुःख उपस्थित होने पर निर्दोष वृत्ति से उसे दूर करना वैयावृत्त्य भावना है।

गुणवत्सासाधुजनानां क्षुधातृषाव्याधिजनित दुःखस्य।
व्यपहरणे व्यापारो वैय्यावृत्त्यं व्यसुद्रव्यैः॥३४/१४०

-हरिवंश पुराण

गुणवान् साधुजनों के क्षुधा, तृषा, व्याधि आदि से उत्पन्न दुःख को प्रासुक द्रव्यों के द्वारा दूर करने का प्रयास करना सो वैयावृत्त्य भावना है।

गुणवतः साधुजनस्य दुःखे सन्निहिते निरवद्येन विधिना तदपहरणं बहूपकारं वैयावृत्त्यमिति व्याख्यायते।

-तत्त्वार्थवार्तिकम् आ. अकलंकदेव स्वामी

गुणवान् साधुओं पर आये हुए कष्ट रोग आदि को निर्दोष विधि से हटा देना, उनकी सेवा आदि करना बहु उपकारी वैयावृत्त्य है।

मुनिन् सेवयोन्नित्यं, वैयावृत्त्यस्य भावना।
चक्री-काम-बलदेवस्य, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

नित्य मुनियों की सेवा सुश्रुषा करें, यह वैयावृत्त्य की भावना चक्रवर्ती, कामदेव, बलभद्र और तीर्थंकर पद की कारण है।

१०. अर्हत् भक्ति भावना

महानुभाव ! हम आगे बढ़ रहे हैं, आत्मशांति का पाठ पढ़ रहे हैं, मोक्ष मार्ग की सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं, आगामी भव प्राप्त करने के लिये अपना नया किला गढ रहे हैं। सोलहकारण भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण हैं, संसार का हरण करती हैं दु:खों का निवारण करती हैं इसके माध्यम से मानव तरण और तारण बन जाता है। ऐसी कारणभूत सोलहकारण भावनायें हैं जिसके संबंध में आपने देखा आगे चर्चा करते हैं 'अर्हत् भक्ति'।

'अर्हत्' शब्द का अर्थ है योग्य, पूज्य, महान, अर्चनीय, वंदनीय, श्रेष्ठ, उत्तम, मंगल एवं सबके लिये शरणभूत। 'भक्ति' शब्द का अर्थ आचार्यों ने दिया-

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्ति

अपने स्वरूप का अनुसंधान करना, अपने स्वरूप की खोज करना भक्ति है। भक्ति एक ऐसा दीपक है जिसके माध्यम से हम अपने घर में अपनी रखी हुयी वस्तु, निधि, गुणराशि को खोज पाते हैं। यदि भक्ति की टॉर्च हमारे पास न हो तो हमें अपनी आत्मा में ही अपनी आत्मा के गुण प्राप्त न हो पायें। अपनी आत्मा में ही अपनी आत्मा के स्वभाव को न जान पायें, उसके लक्षण को न जान पायें, अपनी आत्मा में निहित परमात्मा बनने की शक्ति को न पहचान पायें किन्तु भक्ति के माध्यम से ही यह सब कुछ संभव हो सकता है।

भक्ति की परिभाषा देते हुये कहा-

अर्हतादिपूज्यपुरुषेसुगुणानुरागो भक्ति अर्हन्त आदि पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग रखना भक्ति है। अनुराग कैसे करना ? अनुराग करना उन गुणों को प्रकट करने की भावना से।

आचार्य भगवन् श्री कुन्द-कुन्द स्वामी जी कहते हैं-

जिणवर चरणाम्बुरुहे जे रमन्ति परम-भत्ति-रायेण।
ते जम्मवेलिमलं खणंति वर-भाव सत्थेण॥

जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों में जो कोई भी भव्य पुरुष नमस्कार करते हैं वे परमभक्ति के अनुराग से भक्ति के श्रेष्ठ भावरूपी शस्त्र द्वारा संसार की मूल (जन्म-मरण) को छेद देते हैं। जैसे तलवार द्व ारा शत्रु सेना के धड़ सिर से अलग कर दिये जाते हैं ऐसे ही भक्ति रूपी कुठार के द्वारा संसार के वृक्ष की जड़ काट दी जाती है। जिनके हाथ में भक्ति रूपी कुल्हाड़ी नहीं होती वे संसार रूपी वृक्ष की जड़ को काटने में असमर्थ होते हैं चाहे वह भक्ति आज करें या कल करें, चाहे अगले भव में करें, चाहे असंख्यात भव के बाद करें बिना जिनभक्ति किये कोई भी जिन नहीं बन सकता।

जिसने भी जिनेन्द्र प्रभु की पूजा भक्ति आदि की है उसने नियम से पूज्यता को प्राप्त किया है। रावण, जिसने कैलाश पर्वत पर बने जिनालय में जाकर जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की। उसके भाव भक्ति में इतने लीन हो गये कि भक्ति करते-करते जब उसकी वीणा के तार टूट गये तब उसने अपनी भुजा की नाडीरूपी तन्त्री को खींचकर वीणा बजायी और मुक्तकंठ से जिनराज का गुणगान किया। उसकी भक्ति से नागराज धरणेन्द्र का आसन भी कम्पायमान हो गया। वह आया और रावण से कहा जिनेन्द्रप्रभु के प्रति तेरी जो भक्ति है उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ, तू वर माँग, मैं शीघ्र ही तुझे दुर्लभ, इच्छित वस्तु देता हूँ। रावण बोला हे नागराज ! जिनवंदना के समान और कौन सी शुभ वस्तु है जिसे देने के लिए उद्यत हुए आपसे मैं माँगू, और वह जिनभक्ति मुझे प्राप्त है। धरणेन्द्र ने कहा ठीक कहते हो, फिर भी मेरा अमोघ दर्शन जो तुम्हें हुआ है वह व्यर्थ ना हो इसलिए मैं तुम्हें 'अमोघविजया शक्ति' नाम की विद्या देता हूँ। रावण के मना करने पर भी वह उसे विद्या देकर और पूजा आदि कर अपने स्थान पर चला गया।

महानुभाव! जिनेन्द्र भक्ति लौकिक व पारमार्थिक प्रत्येक सुख को देने में समर्थ है। जैसे कोई भी व्यक्ति किसी कन्या से शादी करना चाहता है तो उसे शुल्क की आवश्यकता पड़ती है विवाह में जो खर्च होता है, ज्यादा नहीं तो सिर पर रखने के लिये मोहर तो चाहिये। ऐसे ही मुक्ति रूपी कन्या से शादी करने के लिये भक्ति रूपी शुल्क चुकाना पड़ता है। आचार्य अजितसेन सूरि ने छत्र चूड़ामणि ग्रंथ में कहा **'मुक्ति कन्या कर गृहे तद्भक्ति शुल्कतामेति'** भक्ति का सेहरा पहनकर ही मुक्ति रूपी कन्या से शादी की जा सकती है। जब भक्तिरूपी सेहरा बँध जाता है तो वह मुक्ति रूपी कन्या ऐसे रीझ जाती है जैसे कामदेव पर रति, चन्द्रमा पर रोहिणी, शिवजी पर पार्वती, रामजी पर सीता, नाभिराय पर मरुदेवी और सिद्धार्थ पर त्रिशला। ऐसे ही मुक्ति रूपी कन्या उस योगी पर (भव्यजीव) रीझ जाती है जो जिनेन्द्र भक्ति में अनुरक्त होता है।

अर्हद् भक्ति तीर्थंकर प्रकृति के बंध में प्रबल निमित्त है। भगवान् पार्श्वनाथ ने भी राजा आनंद की पर्याय में जिनभक्ति के माध्यम से तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया।

इसी जम्बूद्वीप के कौशल देश की अयोध्या नगरी में काश्यप गोत्री इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु व रानी प्रभंकरी के एक आनन्द नाम का पुत्र हुआ। जो बड़ा होकर मण्डलेश्वर राजा हुआ। एक समय उसने अपने मंत्री स्वामीहित के कहने पर आष्टाह्निका में पूजा कराई। जिस पूजा को देखने के लिये वहाँ एक विपुलमति नाम के मुनिराज पधारे। आनन्द ने बड़ी विनय के साथ उनकी वन्दना की और सभी जीवों को सुख देने वाला धर्म का स्वरूप भी सुना तथा अपनी एक शंका का समाधान भी मुनिवर से किया। उसने मुनिराज से पूछा कि हे भगवन्! जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा तो अचेतन है उसमें भला बुरा करने की शक्ति नहीं है फिर उसकी पूजा भक्तजनों को पुण्य रूप फल कैसे प्रदान करती है?

इसके उत्तर में मुनिराज ने कहा कि हे राजन् ! यद्यपि जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिमा, उनके मन्दिर अचेतन हैं फिर भी भव्य जीवों के पुण्य बंध के कारण हैं। यथार्थ में पुण्य बंध परिणामों से होता है और जिनेन्द्र प्रतिमा उनके मन्दिर उसमें निमित्त कारण हैं। उन्होंने बताया कि जिनेन्द्र प्रभु वीतरागी हैं राग-द्वेष से रहित हैं, शस्त्र-आभूषणादि से विमुख हैं, उनकी प्रसन्न मुद्रा चन्द्रमा के समान निर्मल व शीतलता को प्रदान करने वाली होती है, वे लोक-अलोक को जानने वाले हैं तथा परमात्मा हैं इसलिये उनकी भक्ति पूजन करने से शुभ-पुण्य कर्मों का बंध होता है और अशुभ कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं। तथा उन्होंने तीन लोकों के कृत्रिम अकृत्रिम जिनालयों, प्रतिमाओं का वर्णन किया। सूर्य के विमान में स्थित जिनमन्दिर की विभूति का वर्णन किया उस असाधारण विभूति को सुनकर राजा आनन्द को बहुत श्रद्धा व भक्ति जाग्रत हुई।

वह उस समय से प्रतिदिन आदि व अन्त समय में दोनों हाथ जोड़कर तथा मुकुट झुकाकर सूर्य विमान में स्थित जिन-प्रतिमाओं की स्तुति-भक्ति करने लगा। उसकी अर्हत् प्रभु के प्रति इतनी भक्ति बड़ी कि उसने श्रेष्ठ कारीगरों को बुलाकर मणि और सुवर्ण का एक सूर्य विमान भी बनवाया और उसके भीतर फैलती हुई कान्ति का ध ारक जिनमन्दिर बनवाया। तथा जैसा आगम में कहा है वैसे ही उसने भक्तिपूर्वक आष्टाह्निका, चतुर्मुख, रथावर्त, सबसे बड़ी सर्वतोभद्र और दीनों के लिये मनचाहा दान देने वाली कल्पवृक्ष पूजा की। उसकी जिनेन्द्र प्रभु के प्रति तीव्र भक्ति भावना प्रस्फुटित हुई और इसी कारण सभी लोगों की भावना, श्रद्धा जिनेन्द्र प्रभु के प्रति जुड़ गई।

एक समय आनन्द राजा को अपने सिर में सफेद बाल देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया, विरक्त होते ही उन्होंने अपना राज्य अपने पुत्र के लिये देकर समुद्रगुप्त मुनिराज के समीप राजसी वस्त्रों आभूषणों का त्याग कर अनेक राजाओं के साथ निःस्वार्थ तप धारण किया।

उन्होंने चारों आराधनाओं की आराधना की। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, तीर्थंकर नामकर्म के बंध में कारणभूत सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया तथा अर्हद् भक्ति के प्रभाव से तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया और आगे चलकर वे ही आनन्द राजा भगवान् पार्श्वनाथ हुए।

महानुभाव ! भक्ति का अर्थ होता है उसमें लीन हो जाना। किन्तु लीनता कब आती है ? पहले व्यवहार भक्ति आती है तब। व्यवहार भक्ति है बीज बोना, भूमि में अंकुर आना, पौधा होना, पुष्प आना। तथा फल आना ये सब निश्चय भक्ति है। व्यवहार भक्ति क्रिया है व्यवहार भक्ति में भक्त अलग है भगवान् अलग है, निश्चय भक्ति में भक्त और भगवान् का भेद नहीं रह पाता।

भक्ति जब उत्कृष्टता को प्राप्त होती है, जब भक्त भगवान् के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है, वह भगवान् के समक्ष जैसे ही पूर्ण समर्पण कर देता है वैसे ही वह अपनी भक्त की पर्याय को छोड़कर भगवान् की पर्याय को प्राप्त होता है। जैसे एक लकड़ी का टुकड़ा अग्नि को अपना पूरा समर्पण करता है थोड़ी देर बाद देखा जाता है वह लकड़ी का टुकड़ा भी अग्नि बन जाता है। जैसे काले रंग में कोई कपड़ा डाल दिया जाये तो कपड़ा भले ही सफेद था थोड़ी देर बाद वह भी काला हो जाता है, जिसके साथ जो होता है वह वैसा ही हो जाता है अर्थात् पूर्ण समर्पण चाहिये। यदि वस्त्र पुष्पों की टोकरी पर डाल दिया जाये तो वे एकीकृत हो जाते हैं और पुष्प की सुंगध वस्त्र में से आने लगती है जो जिसकी शरण में पहुँच जाता है वह वैसा ही होता चला जाता है। यदि वैसे बन नहीं पाओगे तो उसके साथ रह नहीं पाओगे।

शक्कर जब पानी में डाला जाता है तो पानी उसे स्थान देता है और मीठा हो जाता है किन्तु घी में डाला हुआ नमक घुलता नहीं है हमने यदि पूर्ण समर्पण नहीं किया तो भगवान् अलग भक्त अलग

यदि समर्पण कर दिया तो एकमेक हो जाते हैं। जैसे एक पानी की बूँद तालाब में गिर गयी तो बूँद-बूँद नहीं रहती तालाब बन जाती है। एक नदी जब अपना पूरा समर्पण सागर में कर देती है तो वह नदी नहीं कहलाती सागर बन जाती है ऐसे ही कोई भव्यजीव परमात्मा के चरणों में बिना स्वार्थ के पूरा समर्पण, सर्वस्व समर्पण कर देता है तब नि:संदेह वह आत्मा भी परमात्मा बन जाती है।

जो भक्त भगवान् से अपनी पूजा-पाठ, जाप का फल माँगता है वैश्य की तरह व्यापार करता है तो उसकी आत्मा परमात्मा नहीं बनती वह तो पुण्य कार्य कर रहा है पुण्य का फल माँग रहा है व्यापारी रहा पुजारी कहाँ बना। भक्त तो वह होता है जिसके पास अन्य कार्य करने का वक्त भले ही ना हो किन्तु प्रभुपूजा भक्ति के लिये कभी वक्त की कमी नहीं होती। जिनके पास जिनेन्द्रप्रभु की पूजा भक्ति के लिये वक्त कम है वे कमवक्त और जिनका पूरा वक्त भगवान् के लिये है वही वास्तव में सही भक्त हैं।

भक्ति शब्द की व्याख्या देखें तो 'भ' कहता है-भक्ति 'भ' में छिपा हुआ 'अ' कहता है अरिहन्त, 'क' कहता है करो, 'त' कहता है तिरने के लिये और 'इ' कहती है ईश परमात्मा की। अरिहन्त भगवान् की भक्ति तल्लीन होकर ईशपद को प्राप्त करने के लिये करो। तब तो वह भक्ति भगवान् बनाने में समर्थ है अन्यथा भक्ति करके अन्य संसार की वस्तुयें माँग ली तो वह भक्ति कैसी ? क्योंकि भक्ति में कुछ याचना नहीं होती। यदि याचना है तो फिर वह भिक्षावृत्ति होती है। तुमने अपने कुछ शब्दों के अर्घ चढ़ाये, मुट्ठी भर चावल चढ़ाये और भगवान् से बदले में कुछ माँगकर ले आये तो भक्त कहाँ रहे व्यापारी बन गये। भगवान् के दर पर कषायें (क्रोध-मान-माया-लोभ) यदि अपना रंग दिखाती हैं तो वह भक्त नहीं विकारी है। विषय वासना, रति आदि का भाव आ रहा है तो भी विकारी है। विकारी भावनाओं के साथ भक्ति नहीं की जाती है। भक्ति की

जाती है विकारों को शांत करने के लिये, अविकारी दशा को प्राप्त करने के लिये।

जितने निर्मल परिणामों से भक्ति की जाती है उतना ही उत्कृष्ट फल प्राप्त होता है। भक्त तो द्रव्य समर्पण करके भक्ति करता है उसकी तो कुछ सीमा-मर्यादा होती है किन्तु जब परिणामों को निर्मल करता है उसकी कहीं कोई सीमा नहीं होती।

'कर अति निर्मल भाव' अपने परिणामों की असीम निर्मलता को करता है। यह भक्ति वास्तव में संसार रूपी कुँए से बाहर निकालने के लिये रस्सी के समान है, यह भक्ति इस भव कानन में जहाँ मिथ्यात्व का अंधकार छाया हुआ है, अज्ञान असंयम का जहाँ घनघोर अंधकार छाया हुआ है ऐसे भवकानन में भटकते हुये राही के लिये एक प्रकाश पुंज है। इसे वह हाथ में लेकर चलता है तो उसे रास्ता दिखाई पड़ता है और वह मंजिल तक पहुँच जाता है।

महानुभाव ! इसीलिये तो कहा-''भक्ति मुक्ति करतार, चौबीसों जिनराज''। भक्ति किसकी कर्ता है ? भक्ति मुक्ति की कर्ता है। भक्ति भुक्ति को भी देने वाली है और मुक्ति को भी देने वाली है। जो भक्ति से भुक्ति माँगते हैं उन्हें भोग भी मिलते हैं और जो भक्ति से मुक्ति माँगते हैं वे संसार सागर से पार हो जाते हैं कर्म के बंधनों से मुक्त भी हो जाते हैं। इसलिये कवियों ने लिखा-

यह भव समुद्र अपार तारण के निमित्त सुविध ठई,
अति दृढ़ परम पावन जथारथ भक्ति वर नौका सही

यह संसार, समुद्र के समान है इसे तैरकर के पार नहीं हो सकते, इसके लिये नौका चाहिये। संसार सागर को पार कराने के लिये एक ही नौका है वह है भक्ति रूपी नौका। भक्ति सुदृढ़ हो, पावन हो, उत्कृष्ट हो। उत्कृष्ट भक्ति (नौका) वह कहलाती है जिसमें शंका के छेद नहीं होते, जिसमें कांक्षा के छेद नहीं होते हैं, उत्कृष्ट नौका वह

कहलाती है जिसके पाटे मजबूत हों हवा चलते ही टूट न जायें, जो समुद्र की ऊँची लहरों पर भी चलती जाये उन पर डूबे नहीं, फिसले नहीं, जिसकी पतवार मजबूत हो। वह पतवार मजबूत होती है सम्यक्त्व के माध्यम से। नौका मजबूत होती है समर्पण के माध्यम से। जितना दृढ़ समर्पण होता है उतनी दृढ़ भक्ति होती है फिर भक्त में शक्ति आती है प्रभु को अपने अंदर बसा लेने से। जैसे तीर्थंकर की माँ तीर्थंकर प्रभु को अपने अंदर बसा लेने से प्रखर बुद्धि वाली हो जाती है उनकी शक्ति उसके अंदर आ जाती है। तीर्थंकर सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेंगे, इस प्रकार का संकेत तीर्थंकर की माता को सोलह स्वप्नों के माध्यम से प्राप्त हो रहा है।

महानुभाव ! हर द्रव्य का प्रभाव पड़ता है यदि एक बर्तन में अग्नि रख दी जाये तो पात्र भी बाहर से गर्म हो जाता है। यदि दूसरे बर्तन में बर्फ का टुकड़ा रख दिया जाये तो बर्तन भी बाहर से ठंडा हो जाता है, ऐसे ही जब अपने हृदय में जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना कर ली जाती है तो यह मिट्टी की काया तो मिट्टी में चली जाती है, आत्मा परमात्मा बन जाती है किन्तु जब तक जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना यहाँ पर नहीं की जाती तब तक मिट्टी की काया अच्छी मिट्टी भी नहीं बन पाती सड़ती गलती रहती है जब जिनत्व अंदर आ जाता है तब यह औदारिक शरीर भी परमऔदारिक हो जाता है आत्मा भी परमात्मा बन जाती है।

आपको ज्ञात होगा एकीभाव स्तोत्र के कर्ता आचार्य श्री वादिराज स्वामी जिनके शरीर में कुष्ट रोग हो गया था, राजा ने परीक्षा ली, क्योंकि किसी द्विजमंत्री ने कह दिया था कि निर्ग्रंथसाधु तो कुष्टरोगी होते हैं, यह बात किसी जिनमतावलम्बी को सहन नहीं हुयी वह मुनिराज के पास गया कहने लगा प्रभो ! जिनेन्द्र धर्म की इस तरह निंदा हो रही है। आप तो महान् हैं, तपस्वी साधक हैं यदि राजा का जैनत्व पर अविश्वास हो जायेगा तो प्रजा से भी जैन धर्म का लोप

हो जायेगा। प्रभो ! इस जैनत्व की रक्षा करना है आपको कर्म के उदय से कुछ लेना-देना नहीं है आप तो समतामय जीने वाले हैं। इतना कहकर वहाँ से चला गया। राजा जब मुनिराज को देखने आया तो देखा कि मुनिराज का शरीर तो सोने जैसे चमकता है।

प्रात:काल का समय है सूर्योदय हो रहा है, मुनिराज तो पहाड़ की चोटी पर बैठे हैं राजा व द्विजमंत्री व वैश्यमंत्री पहुँचते हैं, सैकड़ों की संख्या में राजकीय अधिकारी, परिषद् के सदस्य व प्रजा आदि देखते हैं और आश्चर्य चकित रह जाते हैं। उस द्विजमंत्री से कहते हैं तुमने दूसरे धर्मात्मा साधक पर दोष लगाया है तुम नि:संदेह अपराधी हो, राजा उसको सजा देने को तैयार होते ही हैं तभी मुनिराज कहते हैं, ठहरो, इतनी जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है। इसने सत्य कहा था-जब इसने मुझे देखा था तब मेरे शरीर में गलित कुष्ट रोग ही था। राजा ने कहा-यदि इसने जो देखा वह सत्य था तो अब जो मैं देख रहा हूँ क्या वह असत्य है आपका शरीर तो कंचन जैसा दिखाई दे रहा है। मुनिराज बोले-जिस निगाह से तुम देख रहे हो वह भी सत्य है। अर्थात् जिस समय मंत्री ने देखा था वह भी सही था तुम जो देख रहे हो वह भी सही है अभी तुम मेरी इस कनिष्ठा अँगुली को देखो अभी भी इसमें से कुष्ट झर रहा है।

राजा बोला महाराज ऐसे कैसे हो गया? तब मुनिराज एकीभाव स्तोत्र का अंतिम काव्य पढ़ते हैं जिससे वह कनिष्ठा अँगुली भी कंचन जैसी सुंदर हो जाती है। राजा व प्रजा सभी ने प्रभावित होकर जैन धर्म स्वीकार किया। सभी मान गये कि जैनधर्म की शक्ति अचिन्त्य है। यह आत्मा की पर्णकुटी शरीर यदि कंचन जैसी हो गयी तो क्या बड़ी बात है अरे भगवान्! आपके मात्र माँ के गर्भ में आने से पूरी नगरी ही रत्नमयी हो जाती है, रत्नों की वर्षा होती है। यह धरा वसुन्धरा, स्वर्णगर्भा, हिरण्यगर्भा बन जाती है यह शरीर कंचन जैसा हो गया तो कौन बड़ी बात है।

हे भगवन् ! आपका ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाती है, कर्मों के बंधन टूट जाते हैं। आचार्य मानतुंग स्वामी के यदि 48 ताले टूट गये तो कौन बड़ी बात है। इसलिये आप सभी जिन भक्ति में अपना मन लगाओ, अपने वचनों का सदुपयोग करो और शरीर का उपयोग करो प्रभु परमात्मा के चरणों में साष्टांग प्रणाम करके, इससे ही अपना मन-वचन-काय पवित्र होगा, आत्मा निर्मल होगी, कर्मों का नाश होगा, आत्मा परमात्मा बन सकेगी। मैं आप सभी के प्रति भावना भाता हूँ आप अर्हत् भक्ति भावना के माध्यम से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में निमित्त बनें इसी भावना के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

।।श्री अजितनाथ भगवान् की जय।।

अर्हद्भक्ति भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

१. अरहंतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा अरहंतभत्ती णाम।

धवला. पु. 8

अरहंतों में जो गुणानुरागरूप भक्ति होती है वह अरहंत भक्ति कहलाती है अथवा अरहंत द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श को अरहंत भक्ति कहते हैं।

२. अर्हतां तीर्थनाथानां ध्यानपूजास्तवादिभिः।
अनन्यशरणीभूत्वा विदध्याद्भक्तिमूर्तिताम्॥८३॥

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

अनन्यशरण होकर ध्यान पूजा तथा स्तवन आदि के द्वारा तीर्थ के नायक अरहंत भगवान् की अत्यधिक भक्ति करना अर्हद् भक्ति है उस अर्हद्भक्ति भावना का बार-बार चिन्तवन करते हैं।

३. यस्य चित्ते जिनेन्द्राणाम् भक्तिः सन्तिष्ठते सदा।
सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि तस्य नैवात्र संशयः॥

स.श्लो.स.

जिसके मन में सदा जिनेन्द्रदेवों की भक्ति विद्यमान रहती है उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है।

४. त्वां देव ! नित्यमभिवन्द्य कृतप्रणामो,
नान्यत्फलं परिमितं परिमार्गयामि।
त्वय्येव भक्तिमचलां जिन ! मे दिशत्वं,
या सर्वमभ्युदय-मुक्तिफलं प्रसूते॥

स. श्लो.स.

हे देव ! मैं निरन्तर आपकी वन्दना कर प्रणाम करता हुआ अन्य परिमित सीमित फल की याचना नहीं करता हूँ। हे जिनदेव !

आप में ही मेरी वह सुदृढ़ भक्ति विद्यमान रहे, जो समस्त स्वर्ग और मोक्षरूपी फल को देती है, यह वर मुझे दीजिए।

५. एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

–श्री समाधिभक्ति

यह एक जिनभक्ति ही कुशल मनुष्य की दुर्गति का निवारण करने पुण्य को पूर्ण करने और मुक्तिलक्ष्मी को देने में समर्थ है।

६. अर्हत्सु केवलिषु अनुरागो भक्तिः।

अरहन्त केवली भगवान् में अनुराग होना अर्हद्भक्ति है।

–भावपाहुड टीका

अर्हदाचार्यषु केवलश्रुतज्ञानादिदिव्यनयनेषु परहितकर प्रवृत्तेषु स्वपरसमयविस्तर निश्चयज्ञेषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च श्रुतदेवतासन्निधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदभवनारोध्णसुरचितसोपान भूते भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागः भक्तिः, त्रिविधा (चतुर्विधा) कल्प्यते।

–तत्त्वार्थवार्तिकम्, आ. अकलंकदेव स्वामी

केवलज्ञान श्रुतज्ञान आदि दिव्यनेत्रधारी परहितप्रवण और स्वसमयविस्तार निच्क्षयज्ञ अर्हन्त आचार्य और बहुश्रुतों में तथा श्रुतदेवता के प्रसाद से कठिनता से प्राप्त होने वाले मोक्ष महल की सीढ़ी रूप प्रवनच में भाव विशुद्धि पूर्वक अनुराग करना अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति है।

७. जिणवरचरणांबुरुहं जे णमंति परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण॥१५॥

–भावपाहुड

जो उत्कृष्ट भक्ति सम्बन्धी राग से जिनेन्द्र देव के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं वे उत्तम शस्त्र के द्वारा संसार रूपी लता के मूल को उखाड़ देते हैं।

पाप विनाशिका भक्तिः अर्हंत भक्ति भावना।
मोक्षस्य परमा हेतुः तीर्थंकरस्य कारणम्॥

भक्ति पाप का विनाश करने वाली होती है यह अर्हद्भक्ति भावना मोक्ष का परम हेतु तथा तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

जिनेषु गणनाथेषु बहुशास्त्रेषु चागमे।
भाव शुद्धयानुरागः स्याद्भक्तिः कायादिगोचरा॥६३/३२७

–उत्तरपुराण

अरहन्त देव, आचार्य, बहुश्रुत तथा आगम में मन वचन काय से भावों की शुद्धतापूर्वक अनुराग रखना क्रम से अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनशील भावना है।

अर्हत्सु योऽनुरागो यश्चाचार्ये बहुश्रुते यच्च।
प्रवचनविनयश्चासौ चातुर्विध्यं भजति भक्तेः१३४/१४१

–हरिवंशपुराण

अर्हन्त में जो अनुराग है, आचार्य में जो अनुराग है, बहुश्रुत अनेक शास्त्रों के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी में जो अनुराग है और प्रवचन में जो विनय है वह क्रम से अर्हद् भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति नामक चार भावनाएँ हैं।

११. आचार्य भक्ति भावना

महानुभाव ! लोकपूज्य त्रिलोक में सर्वाधिक भौतिक एवं आध्यात्मिक वैभव को देने में समर्थ तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत जिन सोलहकारण भावनाओं की चर्चा कर रहे हैं उनमें अभी तक अर्हद्भक्ति आदि भावनायें देखी। जिस प्रकार अर्हद्भक्ति मुक्ति का कारण है उसी प्रकार आचार्य भक्ति भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध में विशेष निमित्त है।

क्या है आचार्य भक्ति? कौन होते हैं आचार्य? क्या है इनका स्वरूप? क्या है उनके गुण-लक्षण धर्म? उनकी भक्ति करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? आचार्य एक ऐसे युगपुरुष, पुण्यपुरुष, महापुरुष होते हैं जिन्हें आचरण का देवता कहा जाता है। वे चारित्रवानों का नेतृत्व करते हैं। तीर्थंकर प्रभु आचरण के देवता होते हैं, ज्ञान की मूर्ति होते हैं और आत्मलीन रहने वाले आत्मवेत्ता होते हैं। ये तीन विशेषतायें आचार्य-उपाध्याय-साधुओं में क्रमशः अलग-अलग होती हैं। इसलिये आचार्य भगवन्तों को इस कलिकाल में तीर्थंकर के समान ही कहा जा सकता है।

गणधर परमेष्ठी जब तीर्थंकर की दिव्यध्वनि नहीं खिरती है तब उनके अभाव में सभा में विराजित सभी भव्य पुण्य जीवों की जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं। आचार्य, संयमी साधक जो चार प्रकार के मुनि होते हैं उनका तीर्थंकर के अभाव में नेतृत्व करने वाले होते हैं। ऋषि-मुनि-यति और अनगार चतुर्विध संघ के नायक होते हैं और तीर्थंकर के सद्भाव में आचार्य, तीर्थंकरों का अनुगमन करते हैं उनका अनुगमन सभी साधक वर्ग करते हैं अथवा आचार्य परमेष्ठी मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस चतुर्विध संघ का नेतृत्व करने वाले होते हैं। वे ऐसे नायक होते हैं जो स्वयं अपने कदमों को संभाल-संभाल कर रखते हैं उन चरण चिह्नों को देखकर के अन्य साधकगण भी उनके साथ चलने में समर्थ हो जाते हैं।

तीर्थंकर प्रभु तो बोलते नहीं, केवलज्ञान हो जाने के उपरांत उनकी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है, दीक्षा लेने के उपरांत छद्मस्थ काल मौनपूर्वक व्यतीत करते हैं। फिर सामान्य व्यक्ति अपनी आत्मा का कल्याण कैसे करें? अपने मन की बात कैसे कहें? कैसे समाधान प्राप्त करें? तो आचार्य परमेष्ठी बीच की कड़ी होते हैं जो तीर्थंकर की वाणी को सामान्य व्यक्तियों तक पहुँचाते हैं, सामान्य मुनियों तक पहुँचाते हैं, 12 सभाओं के सब जीवों को उद्बोधित करते हैं उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं।

यदि बीच की कड़ी न हो तो उत्कृष्ट से जघन्य का मेल नहीं हो सकता। मध्यम कड़ी उत्कृष्ट से जघन्य का मेल कराती है। जैसे ट्रेन चलती है ट्रेन के इंजन से दूसरा डिब्बा जुड़ता है तो बीच में चुम्बक स्प्रिंग होती है जिनके माध्यम से यात्री को झटका नहीं लगता है और डिब्बे जुड़ते चले जाते हैं। यदि बीच में ज्वाइंट करने की चीज न हो तो जुड़ना मुश्किल हो जायेगा। महत्त्व उस बीच की चीज का है। यहाँ तक कि साइकिल के ट्यूब में से हवा निकल जाये साइकिल पंचर हो जाये तो साइकिल में ट्यूब भी है, लगाने के लिये दूसरी टिकडी भी है किन्तु यदि बीच में लगाने का सोल्यूशन न हो तो बेकार है। ऐसे ही आचार्य परमेष्ठी बीच की वह कड़ी हैं जो संसार में जन्म-मरण के दु:खों को उठाने वाले भव्यजीवों को तीर्थंकर के धर्म तक ले जाने वाले हैं।

आचार्य परमेष्ठी एक ऐसे नाविक हैं जो संसारी प्राणियों को इस किनारे से उस किनारे तक ले जाते हैं। आचार्य परमेष्ठी सम्यक्ज्ञान की तरह सुदृढ़ बीच की कड़ी हैं। जो सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन को भी निर्मल बनाता है, दृढ़, नि:शंक व नि:कांक्षित आदि गुणों से युक्त बनाता है, तो दूसरी ओर चारित्र को अतिक्रम व्यतिक्रम से रहित, अनाचार से रहित बिल्कुल निर्दोष बनाता है। वह सम्यग्ज्ञान वैराग्य का भी कारण है, वह सम्यग्ज्ञान चेतना के अन्यगुणों को भी प्रकट करने में निमित्त बनता है। ऐसे ही आचार्य परमेष्ठी बीच की कड़ी हैं

तीर्थंकरों और सामान्य जीवों के बीच अथवा यूँ कहें आचार्य परमेष्ठी भी स्वयं मध्यम परमेष्ठी हैं। उनके ऊपरी भूमिका में अरिहंत परमेष्ठी व सिद्ध परमेष्ठी होते हैं और उनकी अधःतन भूमिका में उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी होते हैं।

आचार्य परमेष्ठी ऊपर से जो शुद्ध वर्गणायें ग्रहण करते हैं वे अपने से आगे भेजते चले जाते हैं। यदि बीच की कड़ी न हो तो उपाध्याय और साधक न तो तीर्थंकर की वाणी झेल सकेंगे और न उसके माध्यम से स्व-पर का कल्याण करने में समर्थ हो सकेंगे। गणधर परमेष्ठी नियम से चार ज्ञान के धारी होते हैं और अनेक ऋद्धियों के धारी होते हैं। वे स्व-पर कल्याण में बहुत अग्रणीय होते हैं। तीर्थंकर के बहुत समीप में रहने वाले होते हैं।

महानुभाव ! आचार्य परमेष्ठी की स्तुति करने से, उनकी भक्ति करने से क्या होता है ? आचार्य परमेष्ठी की पूजा, भक्ति, स्तुति, गुणोत्कीर्तन से चारित्र में निर्मलता आती है, चारित्र की प्राप्ति होती है, चारित्रस्थिरता को प्राप्त होता है। आचार्य परमेष्ठी में मुख्य रूप से पाँच विशेषतायें होती हैं और तीन रत्नत्रय होते हैं। तीन रत्नत्रय के धनी आचार्य परमेष्ठी की वंदना किस प्रकार की गयी-

सम्यग्दर्शनमूलं ज्ञानस्कंधं चरित्र-शाखाड्यं।
मुनिगण-विहगाकीर्णं आचार्य महाद्रुमं वंदे॥

उस आचार्य रूपी महावृक्ष को मैं नमस्कार करता हूँ जिस महावृक्ष की जड़ है सम्यक्दर्शन,तना है सम्यक्ज्ञान, शाखायें हैं सम्यक् चारित्र तथा जिस आचार्य रूपी वृक्ष पर मुनियों के समूह रूपी पक्षी निवास कर रहे हैं ऐसे आचार्य रूपी महावृक्ष को मैं नमस्कार करता हूँ। इनके दर्शनमात्र से मोह भागता है जैसे सूर्य का उदय होते ही अंध कार भागता है ऐसे ही आचार्य महोदय के दर्शन करने से पाप कर्म भागते हैं। आचार्य परमेष्ठी के चरणों का स्पर्श करने से एक अनुपम अभूतपूर्व आनंद की अनुभूति होती है। आचार्य परमेष्ठी मूक भी बैठे

हों तो स्वतः ही अंदर में भावना पैदा होती है भव्य जीव के मन में भाव जाग्रत होता है कि मैं संयम ग्रहण करूँ, अपनी आत्मा का कल्याण करूँ, व्रतों को स्वीकार करूँ, मैं इस संसार में क्यों पड़ा हूँ यह सब आचार्य महोदय के आभामण्डल का प्रभाव है।

आचार्य परमेष्ठी पंचाचार के परायण होते हैं, पाँच प्रकार के आचार का स्वयं पालन करते हैं व दूसरों को पालन कराने की प्रेरणा देते हैं। यदि वे स्वयं पंचाचार का पालन न करें तो संभव है अन्य कोई अधीनस्थ साधु उपाध्याय या भव्य श्रावक आज्ञा को स्वीकार न कर पायें। वे पंच आचार का पालन करते हुये स्वयं उनका स्वाद ले रहे होते हैं, सुमधुर फलों को चख रहे होते हैं तो भव्य प्राणी भी उनके आनंद को देखकर के उनके आनंद के लिये लालायित होते हैं। सम्यक्दर्शन का जब वे निर्दोष पालन कर रहे होते हैं तो अन्य भव्य जीव भी उन्हें देखकर के सम्यक्दृष्टि बन जाते हैं अपने सम्यक्त्व को निर्मल बना लेते हैं। आचार्य परमेष्ठी स्वयं ज्ञानमूर्ति होते हैं जिज्ञासा का समाधान अल्प शब्दों में करते हैं उन्हें देखकर ज्ञान की प्रेरणा भी मिलती है और आचार्य परमेष्ठी स्वयं में निमग्न रहते हैं। वास्तव में उनके पास चारित्र का साक्षात् जीवंत रूप दिखाई देता है।

तीर्थंकरों के उपरांत यदि तीर्थंकरों जैसी प्रवृत्ति करने वाला पंचम काल में कोई साधक होता है तो वे आचार्य परमेष्ठी हैं। आचार्य परमेष्ठी को पंचमकाल में तीर्थंकरवत् सम्मानीय पूज्यनीय, वन्दनीय, अभिवन्दनीय स्वीकार किया गया है और आचार्यों के अभाव में पंचमकाल में धर्म नहीं चल सकता। चतुर्थकाल में तीर्थंकरों के अभाव में धर्म नहीं चल सकता है, तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म परम्परागत होने वाले आचार्यों के माध्यम से, उपाध्याय, साधु के माध्यम से, श्रुतकेवलियों, केवलियों के माध्यम से चलता है ऐसे ही पंचमकाल में धर्म की प्रवृत्ति भी उस धर्म के प्रवर्तक आचार्यों के माध्यम से होती है। चतुर्थकाल में तीर्थंकर धर्म का प्रवर्तन करते हैं पंचम काल में आचार्य ही धर्म का प्रवर्तन करते हैं।

वे पंचाचार कौन-कौन से हैं? दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। आचार्य स्वयं इनका निर्दोष पालन करते हैं। वे सम्यक्दर्शन का निर्दोष पालन करते हैं आठ अंग सहित पच्चीस दोषों से रहित अत्यंत निर्मल परिणामों के साथ आत्मानुभव करते हुये, आत्मावलोकन करते हुये, आत्मानुभूति करते हुये वे दृढ़ निश्चयी सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान् के गुणों में अनुरक्त, पूज्य गुरुदेवों के चरणों की रज बनकर रहने वाले आचार्य परमेष्ठी दूसरों के लिये नियम से श्रद्धा का विषय बन जाते हैं। वे आचार्य परमेष्ठी ज्ञान मूर्ति होते हैं जिनके एक वाक्य से अनेक व्यक्तियों की जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता है। वे आचार्य परमेष्ठी स्वयं चारित्र के देवता तो हैं हीं यदि चारित्र की मूर्ति बनायी जाये तो बस आचार्य परमेष्ठी की ही मूर्ति बनाकर रख दी जाये।

आचार्य परमेष्ठी तो गणेश हैं विघ्नविनाशक सभी गण के ईश, गण के स्वामी, गणाधिपति, गणनायक होते हैं, वे ही तप की मूर्ति कहलाते हैं। जिसने अपनी लौकिक इच्छाओं को रोक लिया है, अपने लिये कुछ नहीं करना अपने शिष्यों के लिये, अपने साधर्मी जनों के लिये वे नूतन-नूतन प्रकार से धर्म की प्रवृत्ति का उपदेश देते हैं, धर्म का प्रवर्तन करते हैं जिससे व्यक्ति धर्म के प्रति समर्पित रहे अपना कल्याण कर सके, पापों से बच सके। वे आचार्य अपनी शक्ति को न छिपाते हुये स्वयं शक्तितः साधना करते हैं, ध्यान, जप, प्रतिक्रमण, दस धर्मों का पालन करते हैं, परीषहजय आदि सब करते हैं किन्तु किसी भी काल में अपनी शक्ति को छिपाते नहीं हैं। जब आचार्य परमेष्ठी नहीं छिपाते तो उनके शिष्य वर्ग भी उनसे उसी प्रकार का पाठ सीखते जाते हैं।

आचार्य परमेष्ठी के यूँ तो 36 मूलगुण होते हैं किन्तु विशेषतया आठ मूलगुण हैं जो आचार्य परमेष्ठी में ही हो सकते हैं। वे विशेष गुण हैं।

१. आधारवान्–आचार्य आधारवान् होते हैं अर्थात् वे सबके लिये आधार बनते हैं जैसे पृथ्वी सबके लिये आधार है, आकाश सबको अवगाहन देता है। आचार्य परमेष्ठी वैसे आधारवान् हैं जैसे बच्चों के लिये माँ का आधार होता है। उन आचार्य परमेष्ठी के पुनीत अंक में भव्यजीवों को रत्नत्रय रूप बोधि निधान प्राप्त हो जाता है। जिनवाणी उनके कंठ में रहती है। वे ऐसी माँ हैं जिनके पावन सान्निध्य में पहुँचकर के भव्यजीव निर्भीक, निश्चिंत, निराकुल हो जाते हैं उनमें संयम का पालन करने का साहस आ जाता है, सम्यक्त्व की वृद्धि व वैराग्य से परिपूर्ण होते हैं। यह आधारवान् उनका विशेष गुण है। चाहे अल्प वैरागी हो, मध्यम वैरागी हो चाहे तीव्र वैरागी हो, चाहे अल्पज्ञानी हो या तीव्रज्ञानी हो आचार्य सबके लिये आधार हैं। विद्यालय में एक अध्यापक एक ही कक्षा पढ़ाता है अलग–अलग Sections होते हैं, पर आचार्यों के लिए अलग–अलग Section नहीं हैं एक ही आचार्य श्रावक, श्राविका, आर्यिका, चारों प्रकार के मुनि, लघु वय वाले मुनि, मध्यम वय वाले या अधिक वय वाले मुनि हों, विशेष ज्ञानी अल्पज्ञानी सभी को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं निर्देश देते हैं जिससे वह शिष्य आत्म कल्याण के मार्ग से च्युत न होने पाये, अपने जीवन की गाड़ी को संतुलित रखकर चला सके।

दूसरा गुण होता है **'व्यवहारवान्'**–आचार्य परमेष्ठी बहुत व्यवहारकुशल होते हैं। लोक व्यवहार का पूरा ध्यान रखने वाले होते हैं। कोई भी क्रिया लोक व्यवहार के अनुकूल है या प्रतिकूल इस बात के साथ–साथ आगम का उल्लंघन नहीं करते। जो साधक व्यवहार कुशल होता है वह तो आचार्य बनने की क्षमता रख सकता है जो व्यवहार कुशल नहीं है वह आचार्य बनकर भी आचार्यत्व का सम्यक् व्यवहार नहीं कर सकेगा, इसलिये आचार्य का द्वितीय मुख्य कर्त्तव्य होता है व्यवहारवान्।

तीसरा गुण होता है **आचारवान्**। आचार्य परमेष्ठी स्वयं ही आचारत्व से युक्त आचरण के देवता होते हैं। केवल उपदेश–निर्देश

नहीं देते स्वयं आचरण करते हैं तो उनके शिष्यगण भी उनसे वही शिक्षा प्राप्त करते हैं।

आचार्यों का चौथा गुण होता है **अपरिश्रावी** गुण। अर्थात् जिस प्रकार कुत्ते के पेट में घी नहीं पचता ऐसे ही आचार्य शिष्यों को ऐसा उपदेश देते हैं कि जिससे शिष्य अपने दोष, आलोचनादि सब बता देता है। आचार्य महोदय उन शिष्यों को दोषों से मुक्त कर देते हैं।

पाँचवा गुण होता है **'अवपीड़क गुण'** अर्थात् शिष्यों की पीड़ा उनकी स्वयं की पीड़ा होती है शिष्यों को इस प्रकार संभालकर रखते हैं कि कहीं उनका मन डवाँडोल न हो जाये। आचार्य का कर्त्तव्य है शिष्य के मन को संभालना तथा शिष्यों का कर्त्तव्य है आचार्य के तन का, स्वास्थ्य का ध्यान रखना।

आचार्य का छटवाँ गुण है **निर्यापक गुण**। आचार्य संयम का निर्वाह कराते हैं, संयम पालन करने में कहीं कोई विकल्प न आये, प्रतिकूलता न आये वे क्षपक को, साधक को, मुनि को समाधि पर्यन्त तक ले जाते हैं ये उनका विशेष गुण है।

आचार्य परमेष्ठी का सातवाँ गुण है **'आयोपायदर्शी गुण'** कोई साधु यदि क्षुधा-तृषादि वेदना से संक्लेशित हो जाये या तीव्र रागद्वेष रूप हो जाये, लज्जा या भय से आलोचना नहीं करे, रत्नत्रय में उत्साह रहित हो जाये उसे अपाय अर्थात् ऐसा उपदेश देते हैं जिससे रत्नत्रय की रक्षा होवे, उसे अपने संयम की रक्षा का भाव जाग्रत हो, रत्नत्रय के नाश से काँपने लगे, उसे स्व का नाश नरकादि कुगति में पतन दिखाई देने लगे। वे आचार्य ऐसा उपदेश देने की सामर्थ्य रखते हैं जिससे वे अपने संयम में स्थित होते हैं। वे संसार से पीड़ित दुःखी व्यक्तियों को उपाय बताते हैं। व्यक्ति के मन की बात को जानकर के रास्ता पहले बता देते हैं।

आठवाँ गुण है **'प्रकर्त्ता गुण'** अर्थात् संघ में कोई रोगी, वृद्ध, अशक्त हो या बाल हो उसकी सेवा वैयावृत्ति में नियुक्त साधु तो

सेवा करते ही हैं, आचार्य भी उनकी आदर सहित वैयावृत्ति करते हैं। उन्हें देखकर संघ के सभी मुनि वैयावृत्ति करने में सावधान हो जाते हैं। वे सोचते हैं धन्य हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी एवं इनका वात्सल्य, हम महानिंद्य हैं, आलसी हो रहे हैं हमारे होते हुए भी गुरु सेवा कर रहे हैं ऐसे विचार से संघ उद्यमी हो जाता है। आचार्य में समस्त संघ की वैयावृत्ति की क्षमता होती है। कोई हीनाचार हो तो उसे शुद्ध आचार ग्रहण कराते हैं, मंदज्ञानी हो तो समझाकर चारित्र में लगाते हैं, किसी को प्रायश्चित देकर शुद्ध करते हैं। धन्य हैं जो मोक्षमार्ग में लगाकर उद्धार कर देते हैं इसलिए उनका प्रकर्त्ता गुण प्रधान है।

इस प्रकार के विभिन्न गुण होते हैं आचार्य परमेष्ठी में। ऐसे आचार्य परमेष्ठी की जो भक्ति करता है उनकी भक्ति करने से वह शक्ति प्राप्त होती है जिस शक्ति के माध्यम से व्यक्ति तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में समर्थ हो सकता है। ये गुण तो सामान्य से कहे इन गुणों का विस्तार वर्णन तीर्थंकरों में पाया जाता है। आचार्य परमेष्ठी को तीर्थंकर भगवान् का छोटा रूप कह सकते हैं जब वे बड़े रूप को प्राप्त हो जाते हैं तो वे तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेते हैं। ये आचार्य भक्ति नि:संदेह कर्मों का नाश करने वाली होती है। जो कोई भी पाप कर्मों से बचना चाहते हैं बस आचार्य परमेष्ठी का ध्यान लगायें नि:संदेह कर्म भागने लगेंगे जैसे गरुड़ पक्षी को देखकर के सर्प भागने लगते हैं। ऐसे ही आचार्य भक्ति करने से चारित्र मोहनीय की दुष्ट प्रकृतियाँ भी शमित होने लगती हैं।

आप सभी आचार्य परमेष्ठी की मनसा वाचा कर्मणा भक्ति करें यही हमारा आप सभी के प्रति मंगल आशीर्वाद है। आपका मंगल हो शुभ हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

आचार्य भक्ति भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

पञ्चाचारवतां शिष्याणामाचारोपदेशिनाम्।
आचार्याणां त्रिशुद्ध्यासौ धत्ते भक्तिं गुणावनिम्॥८४॥

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

जो स्वयं पंचाचार का पालन करते थे तथा शिष्यों को उसका उपदेश देते थे ऐसे आचार्यों की वे त्रिशुद्धि पूर्वक गुणों की भूमि स्वरूप भक्ति करते थे अर्थात् आचार्यभक्ति भावना का पालन करते थे।

आचार्येष्वनुरागो भक्तिः

आचार्यों में अनुराग होना आचार्य भक्ति है।

–भावपाहुड टीका

आचार्य-भगवंतानां, कुर्याद्भक्ति सुभावतः।
सदाचारस्य संलब्धेः, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

समीचीन भावों से आचार्य भगवंतों की भक्ति करें यह आचार्य भक्ति भावना सदाचार प्राप्ति तथा तीर्थंकर प्रकृति की कारण है।

१२. बहुश्रुत भक्ति भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में निमित्तभूत सोलहकारण भावनायें वह निमित्त हैं जिनके माध्यम से वह पुरुष अपने जीवन में वैसी (तीर्थंकर) योग्यता को प्रकट करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है, अपनी ही प्रतिभा को प्रकट करने का सामर्थ्य प्रकट होता है।

बहुश्रुत भक्ति कहिये या उपाध्याय भक्ति कहिये लगभग एकार्थवाची है। बहुश्रुत का आशय होता है बहुत श्रुतवान्, श्रुतकार्य करने में संलग्न, ज्ञान के श्रेय में निष्णात। तीर्थंकर प्रभु ज्ञानमूर्ति होते हैं जब वह केवलज्ञानी हो जाते हैं तब तो नि:संदेह अनंतज्ञान से युक्त होते ही हैं केवलज्ञानी होने के पूर्व जब वे छद्मस्थ होते हैं साधना काल में रहते हैं उस समय भी उनका ज्ञान विशेष होता है वे अवधिज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान से संयुक्त होते हैं, उनका वह ज्ञान उच्चकोटि का होता है। देशावधि, परमावधि, सर्वावधि अवधिज्ञान तथा ऋजुमति, विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान उनके पास होता है। इससे भी पूर्व श्रुतज्ञान के वे पारगामी होते हैं श्रुत केवली होते हैं, श्रुत का पूर्ण ज्ञान उन्हें छद्मस्थ अवस्था में होता है। यदि इससे पूर्व गृहस्थ जीवन में हैं तब भी वे पूर्वभव से प्राय:कर के अवधिज्ञान को साथ में लाये हुये होते हैं। श्रुतज्ञान भी उनका स्पष्ट और विशिष्ट होता है।

महानुभाव ! तीर्थंकर ज्ञानमूर्ति होते हैं। भविष्य में ऐसी निधि को जो प्राप्त करने वाला है। तो ज्ञान की निधि किसके पास ज्यादा होती है? ज्ञान की निधि उपाध्याय परमेष्ठी के पास ज्यादा होती है। तीर्थंकर में तीन विशेषतायें होती हैं वे आचरण के देवता होते हैं, चारित्र के सुमेरु होते हैं, ज्ञान के पिंड होते हैं तथा आत्मवेत्ता आत्मलीन रहने वाले होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति इसलिये करना जरूरी होती है कि भविष्य में उस पुण्यात्मा को उस प्रकार की शक्ति प्राप्त करनी है। उस शक्ति को प्राप्त करने का बीज उपाध्याय परमेष्ठी से मिलेगा।

उपाध्याय परमेष्ठी पंचपरमेष्ठी में अपना विशेष स्थान रखते हैं। सिद्ध परमेष्ठी कर्मों से रहित हैं, शरीर से रहित हैं उनकी कोई निश्चित आकृति नहीं है यद्यपि हम और आप जानते हैं कि सिद्ध परमेष्ठी सिद्धालय में विराजमान हैं वे अंतिम शरीर से कुछ न्यून होते हैं और अंतिम शरीर की आकृति में ही उनके आकार को तो बना नहीं सकते तो सिद्ध परमेष्ठी की भक्ति सोलहकारण भावनाओं में नहीं कही क्योंकि सिद्धों की भक्ति नहीं उनका ध्यान किया जाता है।

भक्ति और चिंतवन में थोड़ा सा अंतर है चिंतवन करते समय उनके रूप का अवलोकन, दिग्दर्शन और उनको जानना अर्थात् ज्ञाता दृष्टापने में सिद्धों का स्वरूप झलकता है, वह अनुभव की बात है किन्तु भक्ति अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन चार परमेष्ठियों की होती है। इन चारों की भक्ति करके ही वह तीर्थंकर प्रकृति जैसे महान् पुण्य का बंध कर पाता है।

आचार्य परमेष्ठी की भक्ति किसलिये करना ? क्योंकि उसे भी भविष्य में आचरण का देवता बनना है जिसे देखकर व्यक्ति आचरण का पाठ सीख ले। उसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना चाहिये क्योंकि वे ज्ञानमूर्ति हैं। उपाध्याय परमेष्ठी के दर्शन करते ही बहुत सी जिज्ञासाओं का समाधान अपने आप होने लगता है। उपाध्याय परमेष्ठी को ज्ञान का देवता कहा जाता है। इसीलिये प्रायः करके जो कोई भी लोग ज्ञान की उपासना करते हैं वे ''णमो उवज्झायाणं'' इस मंत्र वाक्य की जाप विशेष रूप से लगाते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुये आचार्य भगवन् नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने बृहद्द्रव्य संग्रह में लिखा है–

जो रयणत्तय जुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥

जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं नित्य ही धर्म का उपदेश देने में निरत

(संलग्न) हैं। उनका मुख्य कार्य यही है कि अपनी साधना करते हुये ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहते हुये समस्त भव्य प्राणियों की जिज्ञासाओं का समाधान करना, धर्मोपदेश करना। चाहे कैसी भी जिज्ञासा हो वे ज्ञानमूर्ति उपाध्याय परमेष्ठी उन सभी जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं। इसलिये उनके मूलगुणों में 11 अंग व 14 पूर्व के पाठी होते हैं यह विशेष गुण कहा जाता है। पंचम काल में 11 अंग 14 पूर्व के पूर्ण अध्येता नहीं हैं अंशतः अध्येता होते हैं उनका अध्ययन अध्यापन कराने वाले होते हैं।

आचार्य परमेष्ठी का जहाँ कार्य शिष्यों के चारित्र का संशोधन करना होता है, शिष्यों को मोक्षमार्ग में ले जाने के लिये आलम्बन देना होता है, दीक्षा-प्रायश्चित, सल्लेखना व्रत देने का होता है, सल्लेखना कराने का होता है वे संयम देते भी हैं और प्रतिपालना भी कराते हैं किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी का कार्य संघ में रहते हुये ज्ञान का प्रकाश देना है, अज्ञान को नष्ट करने के लिये प्रयासरत रहना है। इसलिये वे भव्यजीवों को उपदेश भी देते हैं।

तीर्थंकर के अभाव में यदि उपदेश देने का अधिकार है, या जिज्ञासा समाधान करने का अधिकार है तो वह उपाध्याय परमेष्ठी को होता है। तीर्थंकर की सभा में किसी को शंकायें नहीं होती हैं तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती है जिसमें सभी की शंकायें निर्मूल हो जाती हैं। फिर भी आचार्य परमेष्ठी के रूप में गणधर परमेष्ठी उनका समाधान सामान्यतः करते हैं उपदेश रूप में किन्तु फिर भी जो श्रुत केवली होते हैं उन केवलियों का कार्य विशेष रूप से सभी व्यक्तियों की शंकाओं का उन्मूलन करना है।

उपाध्याय परमेष्ठी सभी जिज्ञासाओं का समाधान करने की असाधारण शक्ति अपने पास रखते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी का कार्य संघ संचालन करना नहीं है, शिष्यों का अनुग्रह, दीक्षा देना, प्रायश्चित

देना नहीं है, उनका मुख्य कार्य होता है संघ में शिष्यों को अध्ययन अध्यापन कराना। महानुभाव ! जो भविष्य में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले हैं, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र से सहित हैं वह उपाध्याय परमेष्ठी हैं। यदि नाम या जाति से कोई उपाध्याय है तो उस व्यक्ति की बात यहाँ नहीं कही इसलिये यह विशेषण दे दिया 'जो रयणत्तय जुत्तो' रत्नत्रय से संयुक्त होना चाहिये इससे सिद्ध होता है कि उपाध्याय परमेष्ठी साधु बनने के उपरांत ही बनते हैं पहले रत्नत्रय पद से संयुक्त होकर साधु पदको प्राप्त किया जाता है फिर जिन साधुओं का ज्ञान का क्षयोपशम कुछ विशिष्ट होता है उन्हें उपाध्याय पद का कार्य सौंपा जाता है। यदि किसी का क्षयोपशम तो अच्छा है किन्तु शारीरिक स्थिति ठीक नहीं है, स्वास्थ्य अनुकूल नहीं है या धैर्य आदि गुण उनके पास नहीं है तो वे उपाध्याय पद को प्राप्त नहीं करते।

जो धर्मोपदेश देने में निरन्तर तत्पर रहते हैं जिनके पास एक नहीं सैकड़ों व्यक्ति अपनी जिज्ञासाओं का समाधान लेने के लिये आते हैं, वे उनसे विचलित नहीं होते, सबका समाधान देते हैं। प्रश्न व प्रतिप्रश्न दोनों का समाधान करते हैं। यहाँ तक कि कोई व्यक्ति दुराग्रही है, दुराग्रही होकर पूछने आता है तो उपाध्याय परमेष्ठी अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करते हुये उनका भी समाधान करते हैं। वे समाधान करने में रोष प्रकट नहीं करते, यदि जिज्ञासा लेकर के आने वाला व्यक्ति वास्तव में जिज्ञासा लेकर के आया है तो समाध ान उसे प्राप्त हो ही जाता है और जो जिज्ञासा लेकर के नहीं आया किसी अन्य दुर्भावना के साथ आया है तो उपाध्याय परमेष्ठी वहाँ पर मौन धारण कर लेते हैं।

'णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो सो उवज्झाओ अप्पा' वह दिव्य आत्मा, पुण्यात्मा, महात्मा उपाध्याय है जो नित्य धर्मोपदेश देने में

निरत है। 'जदिवरवसहोणमो तस्स' वह उपाध्याय परमेष्ठी यतियों में श्रेष्ठ हैं। क्योंकि सामान्य साधुगण और विशिष्ट साधुगण भी जिज्ञासा का समाधान लेने हेतु उपाध्याय परमेष्ठी की ही शरण में जाते हैं। इसलिये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी ने ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के लिये नमस्कार किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने स्वयं उपाध्याय की वंदना करते हुये लिखा है-

घोर संसार भीमाडवी-काणणे,
तिक्ख-वियराल-णह-पाव-पंचाणणे।
णट्ठ-मग्गाण जीवाण पहदेसिया,
वंदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया॥

उपाध्याय संसार रूपी वन में भटकते हुये प्राणियों के लिये एक मार्ग दिखाने वाले होते हैं। अंधकार में दीपक ही रास्ता दिखाने में समर्थ होता है। उपाध्याय परमेष्ठी के हाथ में सम्यग्ज्ञान का प्रज्ज्वलित दीपक है। संसार कानन जो मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम रूपी अंधकार से व्याप्त है उस वन में उपाध्याय परमेष्ठी दीपक लेकर चल रहे हैं। जिन्हें अपना रास्ता खोजने की जिज्ञासा है, भाव है, प्यास है वे व्यक्ति उपाध्याय परमेष्ठी की शरण को प्राप्त हो जाते हैं, उनका अनुगमन करते हैं उनके साथ-साथ चलते हैं तब वे निःसंदेह मार्ग तक पहुँच जाते हैं। इतना ही नहीं उन उपाध्याय परमेष्ठी की दिव्य ज्योति से, ज्ञान ज्योति से अपने बुझे हुये दीपक को भी प्रज्ज्वलित कर लेते हैं। क्योंकि एक जला हुआ दीपक अनेक बुझे हुये दीपकों को जलाने में समर्थ होता है किन्तु बुझा हुआ दीपक बुझे दीपक को जला नहीं सकता। एक जले दीपक से अनेक बुझे दीपक जल भी जायें तो भी उससे जले दीपक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ज्ञान ऐसी सम्पदा है जो दूसरों को देने से घटती नहीं है अपितु बढ़ती चली जाती है। संसार की अन्य सम्पदायें तो दूसरों को देने से घट जाती हैं किन्तु ये ज्ञान की सम्पदा दूसरों को देने से नष्ट नहीं होती है।

अपूर्वः कोऽपि कोषोऽयं, विद्यते तव भारती।
व्ययतो वृद्धिमायाति, क्षयमायाति संचयात्॥

इस सरस्वती के कोष की एक ऐसी अपूर्व बात है कि व्यय करने पर वृद्धि को प्राप्त होता है और संचय करने पर नष्ट होता है। जब-जब व्यक्ति विद्या को इकट्ठी करता है उसका उपयोग नहीं करता है तो वह नष्ट हो जाती है। हिन्दीकार ने लिखा-

सरस्वती के भण्डार की बड़ी अपूरव बात।
ज्यों-ज्यों खर्चे त्यों-त्यों बढ़े बिन खर्चे घट जात॥

देखो-किसी व्यक्ति के पास दो पेन हैं, दूसरे के पास भी दो पेन हैं। पहले व्यक्ति ने सामने वाले व्यक्ति को अपने पेन दिये तो उसके पास चार पेन हो गये तुम्हारे पास शून्य। यदि वह दो पेन तुमको देगा है तो उसके पास कुछ नहीं रहेगा तुम्हारे पास चार पेन हो जायेंगे। किन्तु यदि तुम्हारे पास दो अच्छी बातें हैं और सामने वाले व्यक्ति के पास भी दो अच्छी बातें हैं। तुमने दो अच्छी बातें सामने वाले को दी उसके पास चार बातें हो गयी, तुम्हारे पास अभी भी वे दो बातें हैं नष्ट नहीं हुयी, और सामने वाले ने तुम्हें दो अच्छी बातें बता दीं तो तुम्हारे पास भी चार बातें हो गयीं। इससे ज्ञान की वृद्धि हुयी नष्ट कुछ नहीं हुआ। वस्तु का व्यय करने पर वृद्धि को प्राप्त नहीं होती दूसरों को देने पर हम शून्य हो जाते हैं किन्तु ज्ञान देने पर हम शून्य नहीं होते।

उपाध्याय परमेष्ठी ज्यों-ज्यों अपना ज्ञान दूसरों को बाँटते हैं त्यों-त्यों उनके जीवन में ज्ञान की वृद्धि होती चली जाती है। वे संसारी प्राणियों को बताते हैं कि किस प्रकार यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। 14 गुणस्थान हैं, 14 मार्गणा स्थान हैं इन सबका ज्ञान उपाध्याय परमेष्ठी कराते हैं। वे बताते हैं जीव में कितने प्राण हैं, कितनी संज्ञा हैं, वह जीव कैसे उपयोग से जीता है, आश्रव के क्या कारण हैं, बंध

क्यों होता है, कुल जाति आदि क्या है कितने हैं इन सभी सिद्धान्तों का लोक आदि करुणानुयोग संबंधी ज्ञान देने का कार्य मुख्य रूप से वे उपाध्याय परमेष्ठी करते हैं।

आचार्य परमेष्ठी यदि शिक्षा देते हैं तो प्रायः आचरण की शिक्षा देते हैं किस प्रकार संयम का पालन करना है वे मुख्य रूप से प्रथमानुयोग की शिक्षा भी देते हैं कि किस प्रकार उन्होंने कुकृत्य या सुकृत्य किया उसका यह शुभ-अशुभ परिणाम उन्हें प्राप्त हुआ, किंतु सिद्धान्त की गूढ बातें, अध्यात्म की बातें प्रायःकर उपाध्याय परमेष्ठी ही अपने साथियों को पढ़ाते हैं व बताते हैं।

महानुभाव ! उपाध्याय परमेष्ठी बड़े मनोज्ञ व शैक्ष्य होते हैं, विशिष्ट ज्ञानी होते हैं।

प्राज्ञः प्राप्त-समस्त-शास्त्र हृदयः प्रव्यक्त-लोक-स्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभा-परः प्रशमवान् प्रागेवदृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्न-सहः प्रभुः पर-मनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्म-कथां गणी गुण-निधिः प्रस्पष्ट-मिष्टाक्षरः

जो गणी होते हैं, संघ के नायक होते हैं, आचार्य होते हैं उनकी भी ये विशेषतायें हैं, अथवा जो श्रेष्ठ वक्ता होता है वह समस्त शास्त्रों को अपने हृदय में रखने वाला होता है, प्रकृष्ट ज्ञानी होता है, दूसरों के हृदय में स्थित बातों को जानने वाला होता है, जिज्ञासाकार क्या पूछेगा यह समझने वाला होता है, दूसरों की शंकाओं से विचलित न होने वाला होता है, गंभीर व उदार होता है इसके साथ-साथ उसकी शब्द शैली ऐसी होती है जिसके माध्यम से दूसरों के भ्रमरूपी रोग दूर होते चले जायें। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी चारों प्रकार की कथा कहने में समर्थ होते हैं। और वे अपने शब्दों के माध्यम से मात्र अज्ञान रूपी अंधकार को ही नष्ट नहीं करते वह लोगों के मिथ्यात्व रूप अंधकार को दूर करने में निमित्त बनते हैं।

महानुभाव! जब वे मौन मुद्रा में बैठे हैं तब भी भव्यों के लिये सम्यक्त्व का निमित्त हैं, उपदेश दे रहे हैं तब भी सम्यक्त्व के निमित्त हैं। जिस पुण्य पुरुष ने उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति की है भक्ति करने से उसी प्रकार की विशेष भक्ति प्राप्त होती है। जैसे किसान अपने खेत में एक बीज बोता है वह एक बीज 100 गुना होकर के आ जाता है ऐसे ही जिसने उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति पूजा वंदनादि की है तो उनमें जो गुण हैं वह 100 गुने, हजार गुने, लाख गुने असंख्यात गुने गुण उस भक्ति करने वाले में आ जाते हैं अर्थात् तीर्थंकर जब बनता है तो उपाध्याय परमेष्ठी से असंख्यात गुणित ज्ञान की शक्ति उसे प्राप्त होती है। इसलिये तीर्थंकर प्रभु तो नि:सन्देह असंख्यात गुणी ज्ञान शक्ति से युक्त होते हैं, तो वह शक्ति कैसे प्राप्त होगी ? उपाध्याय की भक्ति से प्राप्त होगी जिन्होंने उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा भक्ति की है ऐसी भक्ति से वह तीर्थंकर प्रकृति की पात्रता को प्राप्त करने वाला होता है।

उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना इसलिये आवश्यक है क्योंकि उनकी भक्ति किये बिना प्राय:कर के संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो अपने ज्ञान स्वभाव को प्राप्त कर सके। यूँ तो जिनशासन में पाँचों परमेष्ठी की भक्ति करना बताया या चार की भक्ति एक का ध्यान बताया किंतु उपाध्याय परमेष्ठी का सान्निध्य उनकी भक्ति मैं समझता हूँ पहले आवश्यक है। उपाध्याय परमेष्ठी के पास जाने से ही व्यक्ति को ये बोध होता है कि मैं जीवात्मा हूँ, मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ, मुझे अपना कल्याण कैसे करना चाहिये इत्यादि सभी बातों का समाधान उपाध्याय परमेष्ठी के पास जाकर ही होता है।

जब पृथ्वी प्यासी होती है तब घनी मेघ वृष्टि से वह संतुष्ट होती है। प्यासी पृथ्वी पर चार बूँद पानी की डालने से समाधान नहीं होता, तो उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञान की मेघ वर्षा करने वाले होते हैं जिससे

उस झरी से भव्यों के संतापित हृदय संतुष्ट व तृप्त होते हैं। उन उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति आप सभी को करना चाहिये। जितने भी विद्यार्थी हैं, जितने भी युवा-प्रौढ हैं जो कहते हैं हमें याद नहीं होता हमारा क्षयोपशम घट गया है और जितने भी साधक हैं जिन्होंने पूर्व में याद किया पर अभी भूल गये हैं उन सभी को संकल्प ले लेना चाहिये कि हम प्रत्यक्ष व परोक्ष में उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति तीनों योगों से करेंगे तब नि:संदेह उनका ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होगा, क्षयोपशम बढ़ता चला जायेगा।

आप व हम सभी उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करें जिससे हमारी आत्मा पावन बन सके। ऐसी उत्तम भावना सबके प्रति भाता हुआ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्रीअजितनाथ भगवान् की जय''

बहुश्रुतभक्ति भावना
(अर्थ सहित श्लोक)

**१. बारसंग पारया बहुसुदा णाम। तेसु भत्ती तेहि वक्खाणि
द आगमत्थाणुवत्तणं तदणुट्ठाणफासो वा बहुसुदभत्ती**

धवला जी., पु.8

जो बारह अंगों के पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट आगमार्थ के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठान के स्पर्श करने को बहुश्रुतभक्ति कहते हैं।

**२. बहुश्रुतवतां योगिनां ज्ञानाब्धयवगाहिनाम्।
भक्तिं दृढतरां सोऽधाद्विश्वपूर्वाङ्ग दर्शिनीम्॥८५॥**

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

ज्ञान रूपी महासागर में अवगाहन करने वाले बहुश्रुतवन्त साधुओं की समस्त पूर्व और अंगों को दिखलाने वाली अत्यन्त दृढ़ भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है।

३. बहुश्रुतेष्वनुरागो भक्तिः।

अनेक शास्त्रों के ज्ञाता उपाध्याय आदि में अनुराग होना बहुश्रुतभक्ति है।

–भावपाहुड टीका

**उपाध्यायस्य सद्भक्ते-र्भावनापाठकस्य च।
नंतज्ञानस्य सद्बीजं, तीर्थंकरस्य कारणम्॥**

उपाध्याय की सद्भक्ति की भावना सदा भावें यह बहुश्रुत भक्ति भावना अनंतज्ञान का सम्यक् सद्बीज है तथा तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

१३. प्रवचन भक्ति भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति विशिष्ट अभ्युदय को देने वाला पद है। उस पद को प्राप्त करने के लिये बहुत परिश्रम और पुरुषार्थ करना पड़ता है क्योंकि कमजोर पुरुषार्थ करने वाला विशेष वस्तु को ग्रहण करने में व संभालने में असमर्थ हो जायेगा। तीर्थंकर प्रकृति के अभ्युदय को प्राप्त करने वाले पात्र को सोलह प्रकार की परीक्षाओं से होकर गुजरना पड़ता है। सोलह विषयों का अवलोकन करता है और उनमें से अलग-अलग चीज लेता है। जैसे बड़े-बड़े व्यापारी होते हैं वे अनेक वस्तुओं का विक्रय करते हैं वे देखते हैं कौन सी वस्तु कहाँ पर ठीक और सस्ती मिल रही है। अलग-अलग स्थान से वे सामग्री विशेष मँगाते हैं। तीर्थंकर प्रभु के पास ये सोलह ही नहीं इनसे भी अधिक अनेक प्रकार के गुण होते हैं, अनेक प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, उन शक्तियों को कहाँ-कहाँ से प्राप्त करते हैं। दृष्टि की निर्मलता से अथवा विनय सम्पन्नतादि भावना भाते हैं।

इन भावनाओं के उपरांत प्रवचन भक्ति करना भी आवश्यक है। प्रवचन भक्ति करने का आशय है **''प्रकृष्ट वचनानां भक्ति प्रवचनभक्तिः''** प्रकृष्ट वचनों की भक्ति क्या है ? आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज एक उदाहरण देते हुये कहते हैं-हनुमान जी सीता का पता लगाकर रामचन्द्र जी के पास आये और उन्होंने बताया कि मैंने सीता माता का पता लगा लिया है, वे एक पेड़ के नीचे सुरक्षित बैठी हैं। तब राम ने हनुमान को गले लगा लिया। हनुमान ने कहा-प्रभु ! मैं सीता माता को तो लेकर भी नहीं आया फिर आप इतने हर्षित होकर मुझे गले क्यों लगा रहे हो? तब राम ने कहा, अरे हनुमान! तुम सीता का समाचार तो लेकर आये, मानो वह मुझे मिल गई।

ऐसे ही स्वाध्याय के माध्यम से कम से कम आत्मा के गुणों का परिचय तो प्राप्त हो गया। आत्मा का साक्षात्कार हो गया। जिन वचनों

के माध्यम से आत्मा का कल्याण होता है, जिन वचनों के माध्यम से आत्मा परमात्मा बनती है, जिन वचनों के माध्यम से मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम नष्ट होता है, जिन वचनों के माध्यम से आत्मा अपना निजी वैभव प्राप्त करने में समर्थ होता है, जो वचन आत्मा के समग्र वैभव को प्राप्त करने में प्रवेश पत्र की तरह से होते हैं उन वचनों को प्रवचन कहते हैं, शास्त्रवचन, आगमवचन, पुराण वचन कहते हैं।

प्रवचन भक्ति का आशय ऐसा भी माना जाता है कि शास्त्रों की भक्ति करना। किन्तु जो काम शास्त्रों के शब्दों के माध्यम से भी नहीं हो पाता है वह काम होता है वास्तव में साधु के माध्यम से। शास्त्र सम्यग्ज्ञान की वृद्धि में निमित्त बनते हैं, शास्त्र संभव है मिथ्यात्व को तिरोहित करने में निमित्त बनते हैं, शास्त्रसम्यक् चारित्र की निर्मलता में निमित्त बनते हैं। शास्त्र के साथ-साथ प्रवचन कहिये तो दिगम्बर संत।

निर्ग्रंथ साधु, विरागी संत भी प्रवचन कहलाता है, उनके पास वे अष्ट प्रवचन मातृका होते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, षड़ावश्यक और सात विशेष गुणों का पालन करते हैं। उनमें पाँच समिति व तीन गुप्ति ये अष्ट प्रवचन मातृका कहलाती हैं। अथवा प्रवचन का सार समय का सार, द्वादशांग का सार कहिये तो वह है मुनि अवस्था। मुनि अवस्था धन्य है जिसमें आत्मा का अवलोकन किया जाता है। शास्त्र आत्मा का अवलोकन करने में निमित्त हैं। शास्त्रों के शब्द आत्मा की अनुभूति में निमित्त बन सकते हैं किन्तु वास्तव में आत्मा की अनुभूति करने वाले संत होते हैं साधु पुरुष होते हैं। जो तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला है, जिसे आत्मा का अवलोकन करना है तो वह अवलोकन की कला तो वहीं से प्राप्त होगी जो वर्तमान में आत्मा का अवलोकन कर रहा है।

आत्मा का अवलोकन करने में समर्थ हैं संत पुरुष जो विषय, कषाय, आरंभ-परिग्रह से रहित हैं। जो ज्ञान-ध्यान तप में लीन रहने वाले हैं। जो साधु पुरुष संसार-शरीर भोगों से विरक्त हैं, जो निरंतर सच्चे देव शास्त्र गुरु की स्तुति में, गुणानुवाद में संलग्न हैं व अपने

स्वभाव का अन्वेषण करने में संलग्न हैं ऐसे वे साधु पुरुष दूसरों के मिथ्यात्व का वमन करने में निमित्त बनते हैं।

साधु पुरुष का आशय होता है जो संसार समुद्र के किनारे पर आ गया। जिसने सारे संसार को पार कर लिया। हो सकता है आचार्य परमेष्ठी अभी किनारे से थोड़ा दूर हों, उपाध्याय परमेष्ठी दूर हों किन्तु साधु पुरुष किनारे के समीप हैं। कैवल्यज्ञान को साधु ही प्राप्त करता है आचार्य, उपाध्याय उस पद के भार को ग्रहण करते हुये कैवल्यज्ञान जैसी सम्पत्ति को प्राप्त नहीं करते, इतना ही नहीं आचार्य उपाध्याय परमेष्ठी के ऊपर तो एक कर्त्तव्य का भार है उस भार से मुक्त हुये बिना वे उत्तम समाधि को भी प्राप्त नहीं कर सकते इसलिये पदभार का त्याग करना जरूरी होता है। आचार्य, उपाध्याय परमेष्ठी अपने-अपने पद पर सौंपा गया कर्त्तव्य दूसरों को हस्तान्तरित करके उसके उपरांत साधु बनकर समाधि को स्वीकार करते हैं।

वे साधु, समाधि को कितनी ही बार प्राप्त होते हैं। मरण तो एक बार होता है, समाधि के साथ देह का परित्याग करना समाधि मरण है किन्तु समाधि का आशय होता है आत्म ध्यान को प्राप्त करना। साधु पुरुष जितनी देर तक समाधि में रहते हैं, जितनी अधिक बार निर्मल ध्यान के परिणामों को प्राप्त कर सकते हैं हो सकता है आचार्य, उपाध्याय उतनी देर तक समाधि के समय में न रह सकें क्योंकि उन्हें अपनी जिम्मेदारी का भी तो निर्वाह करना है। साधु पुरुषों के लिये कोई जिम्मेदारी नहीं दी उन्हें तो अपने ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहना है। क्या होना चाहिये क्या नहीं होना चाहिये ये सब जिम्मेदारी साधु पुरुषों की नहीं होती। 'मौनं मुनि' मुनि को तो प्रायःकर मौन का ही पालन करना चाहिये, आत्मावलोकन करना चाहिये, मुनि के लिये उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है।

आगम मार्ग तो यही है कि साधुओं को न उपदेश देने का अधिकार होता है, न प्रायश्चित देने का अधिकार होता है, न किसी अन्य प्रकार से निर्देशन आदि देने का अधिकार होता है। साधु का तो एक मात्र

कर्त्तव्य रहता है अपने कल्याण में संलग्न रहना, उनके कल्याण में यदि कहीं बाधा आती है तो वे आचार्य/उपाध्याय के चरणों में पहुँच जाते हैं कि हमें क्या करना है। उन आचार्य/उपाध्यायों का निर्देश ही उनके लिये प्रवचन है, आदेश है, आगम वाक्य है।

जहाँ प्रवचन मातृका का अर्थ 5 समिति 3 गुप्ति होता है वहीं इसका दूसरा संक्षिप्त अर्थ ये भी होता है आचार शास्त्र का ज्ञाता। साधु 5 समिति 3 गुप्ति का पालन करने वाला हो इतना भी यदि उसे ज्ञान नहीं है तो आचार शास्त्र का ज्ञाता हो कि मुझे कैसा आचरण करना है इतना भी नहीं हो तो पुनः उसके लिये बताया कि गुरु आज्ञा का पालन करने वाला वह साधक अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ होता है वह आचार शास्त्र का ज्ञाता माना जाता है।

तो साधु की भक्ति क्यों करना ? क्योंकि साधु अधिक से अधिक समय तक आत्मा में लीन रहता है, लीन रह सकता है, भविष्य में उसे तीर्थंकर बनना है दीक्षा लेते ही उसका अधिकांश समय आत्मा में लीन रहने में जाता है। जब वह केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं तब भी अपनी आत्मा में लीन रहते हैं इसीलिये उन अर्हत् भगवान् की स्तुति करते हुये कहते हैं

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित अरि रज रहस विहीन॥

जो हमेशा सकल पदार्थों को जानते हुये भी अपने आत्मरस में लीन रहते हैं। महानुभाव ! आत्मरस में लीन रहने वाले एक तो सिद्ध परमेष्ठी हैं किन्तु उनका शरीर नहीं है उन्हें देख नहीं सकते, अर्हंत परमेष्ठी भी हैं किन्तु वे अभी साक्षात् देखने में नहीं आ रहे, आचार्य उपाध्याय साधु तीनों के पास अलग-अलग गुण हैं। आचार्य परमेष्ठी के पास आचरण है वे आचरण के देवता हैं, व्यवहार चारित्र को दर्शाने वाले हैं, प्रायश्चित आदि देकर मार्ग का निर्देशन करने वाले

हैं। उपाध्याय परमेष्ठी जो ज्ञानमूर्ति हैं वे संकेत करते हैं ऐसे नहीं ऐसे चलो। जो मन में विद्यमान अज्ञान के अंधकार को निकालने का प्रयास करते हैं। तीसरे हैं साधु परमेष्ठी जो साधना में संलग्न रहते हैं। जिन्हें देख स्वयं साधना करने की भावना मन में आती है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखा है-कि मुनि महाराज मौन रहकर ही मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं और साक्षात् मोक्षमार्ग उनकी क्रिया चर्या से उनके जीवंत शरीर से दिखाई देता है। वचनों से जो मोक्षमार्ग सुनते व समझते हैं शायद उसका प्रभाव बाद में पड़ेगा, कम पड़ेगा किन्तु साक्षात् जो मुनिराज मोक्षमार्ग को दिखा रहे हैं, मोक्षमार्ग पर चल रहे हैं उसे देखकर जल्दी प्रभाव पड़ता है।

आप जानते हैं यदि आपको कोई उपदेश मौखिक दिया जाये तो प्रभाव कम पड़ता है बजाय कि कोई जीवंत प्रैक्टीकल करके दिखाये। देखने से ज्यादा प्रभाव पड़ता है। साधु परमेष्ठी साक्षात् मोक्षमार्ग हैं, साक्षात् प्रवचन हैं वे जीवंत धर्म हैं उनकी भक्ति करने से अपने जीवन में भी जीवंत धर्म की स्थापना होती है। इसलिये सोलह कारण भावनाओं में प्रवचन भक्ति को भी रखा गया है। मुख्य रूप से प्रवचन भक्ति भी आवश्यक है।

प्रवचन का तीसरा अर्थ तीर्थभक्ति भी किया जा सकता है। तीर्थ वह कहा जाता है जिसका आश्रय लेने से भव्य प्राणी संसार सागर को पार कर लेते हैं जैसे नाव का आश्रय लेने से प्राणी सरिता को पार करते हैं इसी प्रकार रत्नत्रय से निर्मित एक नौका है जिसमें भव्य जीव सवार होता है और संसार सागर को पार कर लेता है। किन्तु वह रत्नत्रय यूँ ही कहीं संसार में पड़ा दिखायी नहीं देता। वह रत्नत्रय किसी साधक में ही दिखाई देता है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त आत्मा ही तीर्थ है। वही नौका है इस नौका का जो आश्रय लेते हैं वे संसार सागर से पार हो जाते हैं।

साधु एक जीवंत तीर्थ हैं। अन्य तीर्थ होते हैं जहाँ से तीर्थंकर प्रभु का मोक्ष हुआ या दीक्षा हुयी, केवलज्ञान प्राप्त हुआ ये स्थान तीर्थ माने जाते हैं किन्तु वे तीर्थ अचेतन तीर्थ हैं। अचेतन तीर्थ में जो ऊर्जा होती है वह शनैः-शनैः मृतप्रायः होती चली जाती है। दीर्घकाल निकल जाने पर तीर्थों की ऊर्जा कम हो जाती है किन्तु जो जीवंत तीर्थ होते हैं तो समझो ऊर्जा संग्रहीत है। अचेतन तीर्थ समझें तो कह सकते हैं जैसे आपके मोबाइल आदि होते हैं। उनकी बैटरी को चार्ज करने के लिये अलग से बैटरी बेकअप आता है उसके माध्यम से चार्ज कर लेते हैं। आप पहले से ही उसे चार्ज करके रखते हैं फिर जहाँ कहीं भी आवश्यकता होती है उसे इस्तेमाल में ले लेते हैं। किन्तु जब उसकी बैटरी डाउन हो जाती है लाइट भी नहीं है तो चार्ज कैसे करेंगे उसकी एक लिमिट है। किन्तु जहाँ लाईट आ रही है वहाँ कभी भी चार्ज कर लो बैटरी लगा लो, वो तो कभी भी डाउन होने की बात ही नहीं है।

तो साधु तो जीवंत विद्युत हैं जिसके माध्यम से आप कभी भी अपनी बैटरी को चार्ज कर सकते हैं अर्थात् ये जीवंत तीर्थ हो गये। किन्तु जिनकी ऊर्जा शनैः-शनैः ह्रासमान अवस्था को प्राप्त हो रही है उनसे व्यक्ति की विशुद्धि नहीं बढ़ती। प्रारंभ में जिस तीर्थ स्थान से किसी साधु का मोक्ष हुआ या भगवान् का कोई कल्याणक हुआ जब वहाँ पहुँचते हैं तो बड़ी विशुद्धि बढ़ती है क्योंकि उस समय वे विशुद्ध ऊर्जायें रहती हैं जिसके माध्यम से व्यक्ति के परिणाम परिवर्तित हो जाते हैं। किन्तु उस स्थान पर बार-बार अशुद्ध ऊर्जा वाले व्यक्ति जाते हैं तो शनैः-शनैः उस ऊर्जा में कमी आती जाती है। क्योंकि नयी ऊर्जा का तो निर्माण हो नहीं रहा, पुरानी ऊर्जा नष्ट होती चली जा रही है।

अचेतन तीर्थ की ऊर्जा शक्ति धीरे-धीरे नष्ट भी हो सकती है, होती है, किंतु जो जीवंत तीर्थ साधु परमेष्ठी हैं वे तो नव-नव ऊर्जा शक्ति

का संपादन कर रहे हैं। साधु तो सम्यक्त्व की ऊर्जा देने वाला, चारित्र व ज्ञान की ऊर्जा देने वाला जीवंत तीर्थ है। और जो घाट पर पहुँच जाता है वह तो नाव में बैठकर के अपना कल्याण करने में समर्थ हो जाता है। तो घाट तक तो पहुँचना पड़ेगा तभी नाव में बैठकर के नदी पार की जा सकती है। ऐसे ही जिस व्यक्ति को अपनी आत्मा का कल्याण करना है उसे साधु के पास पहुँचना पड़ता है।

अचेतन तीर्थ हमारे पास चलकर नहीं आ सकते किन्तु चैतन्य तीर्थ हमारे पास चलकर आ सकते हैं उनके माध्यम से हमें ऊर्जा शक्ति प्राप्त होती है। हमारे कक्ष तक सूर्य का प्रकाश आ सकता है किन्तु बिजली का स्विच बोर्ड चलकर के तुम्हारे पास नहीं आयेगा। किसी भी इलेक्ट्रॉनिक उपकरण को चार्ज करने के लिये बोर्ड तक आपको ही पहुँचना पड़ेगा।

महानुभाव ! हमें जीवंत तीर्थ की प्राप्ति के लिये साधु के पास जाना चाहिये। और साधु तो बहती नदी के जैसा है, कुआ चलकर नहीं आता प्यासे को कुयें के पास चलकर जाना पड़ता है किंतु नदी तो बहकर के आ सकती है। तो साधु जीवंत नदी हैं कुयें का पानी नहीं हैं कि श्रोतबंद हो गया, कुँआ सूख गया अब क्या किया जाये। साधु वह नदी हैं जिसमें अहर्निश सतत रूप से पानी बहता रहता है। ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, शहर-शहर विचरण करते हुये वह आपको दिखायी दे रहे हैं कि वे बाह्य में विचरण कर रहे हैं किन्तु सत्यता यह है कि वे अपनी आत्मा में रमण कर रहे होते हैं। अपनी आत्मा में रमण करते हुये वे जिस आनंद का अनुभव करते हैं वह आनंद सामने वालों को भी अनुभव में आता है, किंचित् रूप में आता है पूरा समझ में नहीं आता, वह आनंद शब्दातीत होता है।

व्यक्ति जब संसार की परेशानियों से परेशान व दुःखी हो जाता है तब वह यदि साधु के चरणों में पहुँच जाता है तो उसे बहुत शांति मिलती है। जैसे कोई तपा हुआ व्यक्ति नदी के पास पहुँच जाये तो

उसे शीतलता मिलती है, कोई धूप से तपा हुआ व्यक्ति वृक्ष की शीतल छाया में पहुँचकर शांति को प्राप्त करता है। ऐसे ही साधु पुरुषों के पास जिनके अंदर में वास्तव में साधुता बनी हुयी है, जीवंत साधुता है, उनके पास एक मुहूर्त प्रमाण काल के लिये भी जाकर बैठ जाओ तो अंदर में आनंद की अनुभूति होती है। ठंडी हवा यदि बाहर चल रही हो तो उसका अहसास स्वयं को भी होता है।

प्रवचन भक्ति का अर्थ है द्वादशांग रूपी जिनवाणी की भक्ति करना, चारों अनुयोगों की भक्ति करना, साधु पुरुषों की भक्ति करना, प्रवचन अर्थात् तीर्थ, तीर्थ यानि साधु उन चेतन तीर्थ की भक्ति करना तभी आप तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले तीर्थंकर पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। आप तीर्थंकर जैसे महत्त्वपूर्ण पद को प्राप्त करने में सक्षम हों ऐसी आपके प्रति भावना भाता हूँ और अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय।''

प्रवचनभक्ति भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

१. सिद्धंतो बारहंगाणि पवयणं, प्रकृष्टं प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनमिति व्युत्पत्तेः। पवयणं सिद्धंतो बारहंगाइ, तत्थ भवा देस-महव्वइणो असंजदसम्माइट्ठिणो च पवयणा-तम्हि भत्ती तत्थ पदुप्पादिदत्थाणुट्ठाणं।

-धवला जी, पु. 8

सिद्धान्त या बारह अंगों का नाम प्रवचन है क्योंकि प्रकृष्ट वचन प्रवचन या प्रकृष्ट (सर्वज्ञ) के वचन प्रवचन है ऐसी व्युत्पत्ति है। सिद्धान्त या बारह अंगों का नाम प्रवचन है तो इसमें होने वाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहे जाते हैं उन प्रवचनों में कहे हुए अर्थ का अनुष्ठान करना प्रवचनभक्ति है।

स्वर्गमुक्ति पयोधोतिन्यज्ञानध्वान्तनाशिनि।
भक्तिं प्रवचने सोऽधान्निःशेष तत्त्व दर्शिनि॥८६॥

-श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

जो स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित करने वाला है, अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला है तथा समस्त तत्त्वों को दिखाने वाला है ऐसे प्रवचन में भक्ति का होना प्रवचन भक्ति भावना है।

प्रवचने जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः।

प्रवचन-जिनागम में अनुराग होना प्रवचनभक्ति है।

-भावपाहुड टीका

४. भव्याः कुर्युस्सदा भक्तेः प्रवचनस्य भावनाम्।
रत्नत्रयस्य हेतुश्च, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

भव्य जीव सदा प्रवचन भक्ति की भावना को भावें, यह प्रवचनभक्ति भावना रत्नत्रय की हेतु तथा तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

१४. आवश्यका-परिहाणि भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंधरूप सोलहकारण भावनाओं के संबंध में हम विचार कर रहे थे कि ये भावनायें तीर्थंकर प्रकृति के बंध में किस प्रकार कारण बनती हैं। इनके माध्यम से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कैसे हो सकता है। आज हम चर्चा करते हैं आवश्यकापरिहाणि भावना के संबंध में।

वे आवश्यक कर्त्तव्य जिनका परिहार नहीं किया जा सकता। वे आवश्यक कर्त्तव्य श्रावकों के भी होते हैं और श्रमणों के भी होते हैं। कुछ कर्त्तव्य ऐसे होते हैं जो किसी के वश में नहीं होते। उन कर्त्तव्यों के वश में व्यक्ति को होना पड़ता है। अवश्य करने योग्य कार्य श्रावकों के लिये दिया-देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान। इन कर्त्तव्यों को टाला नहीं जा सकता। जो श्रावक इन कर्त्तव्यों का परिहार (छोड़) कर देता है तो वह श्रावक, श्रावक नहीं रह पाता अपने श्रावक पद से च्युत हो जाता है। ये छः आवश्यक कर्त्तव्य श्रावक को धर्म में लीन करने में निमित्त होते हैं।

बिना निमित्त के कोई कार्य नहीं होता। व्यक्ति जब तक संसार में है तब तक तीनों योगों से कर्मों का आश्रव कर रहा है क्योंकि व्यक्ति का मन चंचल है वह तो स्पंदन करता ही रहेगा इससे आत्मा के प्रदेश भी स्पंदित होंगे, कर्म का आश्रव होगा। वचन बोलने की शक्ति है भले ही बाहर से मौन ले लिया जाये किन्तु अन्तर्जल्प तो चलता ही रहेगा, शरीर है शरीर से भले ही थोड़ी देर के लिये स्थूल क्रिया को रोक दें किन्तु शरीर फिर भी वायब्रेट होता रहता है। श्वांस ले रहे हैं तो हलन चलन हो रहा है इन सभी के माध्यम से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन होता है और इस परिस्पंदन से कर्मों का आश्रव होता है।

यदि वह श्रावक अपने मन को धर्म कार्य में, पुण्य कार्य में नहीं लगाता है तो निश्चित है उसका वह स्पंदन अशुभ आश्रव के लिये निमित्त कारण बनेगा। क्योंकि अधिक समय तक किसी एक क्रिया में संलग्न नहीं रहा जा सकता तो श्रावक अपने उपयोग को निर्मल बनाने के लिये, पापों से बचने के लिये 'विषय-कषाय वंचनार्थं' 'अशुभ उपयोग निवृत्यर्थं' वह शुभ कार्यों का सहारा लेता है और इन कार्यों को करते-करते उसका समय कैसे निकल जाता है उसे पता भी नहीं चलता।

प्रारंभिक विद्यार्थी को पहले एक विषय नहीं पढ़ाया जाता उसके कोर्स में 5-6-8 विषय होते हैं। पहले 1 घंटे में एक विषय पढ़ता है अगले समय में अगला विषय पढ़ता है तो वह बोर नहीं होता। यदि सुबह से लेकर शाम तक उसे एक ही विषय दे दिया जाये तो वह पढ़ न पायेगा। विषयों की परिवर्तनशीलता से उसका मन चेंज होता चला जाता है यहाँ तक कि एक विषय के भी अलग-अलग चेप्टर होते हैं उस चेप्टर में भी अलग प्वांइट होते हैं। उसे अलग-अलग नया-नया विषय मिलता चला जाता है तो वह बोर नहीं होता। व्यक्ति खेल भी खेलता है यदि एक ही खिलाड़ी सुबह से शाम तक खेलता रहे तो देखने वाला खेल देखते-देखते बोर हो जायेगा, खिलाड़ी चेंज होते जा रहे हैं, टीम भी चेंज होती जा रही है, राउण्ड भी चेंज हो रहे हैं तो उसका मन भटकता नहीं है इसी प्रकार वह श्रावक अपने मन को जिनपूजा में लगाता है, फिर कभी गुरुओं की सेवा में लगाता है, उपवास में लगाता है, कभी स्वाध्याय करता है, कभी जाप करता है। इस प्रकार अपने मन को अशुभ में जाने से रोक लेता है।

महानुभाव ! इस आत्मा में अनादिकाल से संसार परिभ्रमण के संस्कार पड़े हुये हैं, अनादिकाल के विषय-कषायों के कुसंस्कार,

मिथ्यात्वादि रूप पाप प्रवृत्ति के संस्कार पड़े हुये हैं। उन संस्कारों को कैसे नष्ट किया जाये, अचानक तो नष्ट हो नहीं सकते कि यकायक ही वह अपने गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में पहुँच जाये या सीधा ही श्रेणी मार दे। इसके लिये प्रारंभ में वह अभ्यास करता जाता है और अभ्यास करते-करते अपने कार्य में सफल हो पाता है।

श्रमणराज के भी समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान ये छः आवश्यक कर्त्तव्य होते हैं, वे भी अपने उन छः आवश्यक कर्त्तव्यों के माध्यम से अपने उपयोग को शुभ से शुद्ध की ओर ले जाते हैं। ये शुभ क्रियायें प्रवृत्ति रूप हैं किन्तु ये ऐसी शुभ क्रियायें हैं कि इन क्रियाओं को करते-करते कब निवृत्ति के द्वार पर पहुँच जाते हैं ये स्वयं उन्हें अहसास नहीं होता।

भगवान् की स्तुति, वंदना करते-करते कब ध्यान लग गया, कब उपयोग आत्मा में लग गया, अपने कर्त्तव्यों को करते-करते कब वे लीन हो जाते हैं पता नहीं चलता। क्योंकि कई बार हम विचार करते हैं मोक्ष जाने के लिये या केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये एक मुहूर्त का समय पर्याप्त है किन्तु वह समय आयेगा कैसे ? जिस समय में मैं समस्त कर्मों को निर्जीण करने में समर्थ हो जाऊँ, वह समय प्राप्त करने के लिये पहले अभ्यास करना पड़ता है।

कोई विद्यार्थी परीक्षा में पास होकर के प्रमाण पत्र प्राप्त करता है, वह आठ विषय पढ़ता है एक विषय की परीक्षा के लिये 3 घंटे का समय दिया जाता है आठ विषयों के लिये 24 घंटे। 24 घंटे में यदि पास हो गया तो पूरा पास हो गया उसे अच्छे नंबर व प्रमाण पत्र मिल जायेगा। किन्तु वह तीन-तीन घंटे का समय जिसमें अच्छे नंबर प्राप्त किये जा सकें उसके लिये उसे 8-10 महीने अच्छी पढ़ाई करनी पड़ती है, सुबह-शाम पढ़ाई करनी पड़ती है तब उसका अच्छा

रिजल्ट आ पाता है। कोई एक व्यक्ति इंटरव्यू देने के लिये जाता है वहाँ उसे पास होने के लिये मात्र 1 घंटे के लिये बुलाया, किन्तु उस एक घंटे में उससे कौन से 20-30 प्रश्न पूछे जायेंगे इसके लिये तैयारी में उसे वर्षों का समय व्यतीत करना पड़ता है। ऐसे ही अपने मन को साधने के लिये, अपने मन को बाँधने के लिये, धर्म में स्थिर करने के लिये वह साधक निरन्तर प्रयास करता है।

वह साधक विभिन्न शुभ क्रिया रूप द्वारों पर स्वयं को लगाये रखता है, अपना मन स्थिर करने का प्रयास करता है कि कहीं मैं ऐसी भूमिका में न चला जाऊँ जहाँ से आत्मा के समीप न पहुँचा जा सके। इसीलिये छः आवश्यक कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों का पालन करना उस पुरुष के लिये आवश्यक हो जाता है जिस पुरुष को तीर्थंकर प्रकृति जैसी विशिष्ट प्रकृति का बंध करना है। क्योंकि तीर्थंकर पुरुष अपनी साधना से अपने मन को कहीं जाने नहीं देते, उनका मन अशुभ में नहीं जाता, अतः उन जैसी अवस्था प्राप्त करने के लिये सतत अभ्यास नितांत आवश्यक है।

अभ्यास चाहे कोई घुड़सवार बनने के लिये करे, डॉक्टर या वकील बनने के लिये करे, बिना अभ्यास के वह अपनी मंजिल प्राप्त नहीं कर सकता। अथवा तीर्थंकर प्रकृति का बंध करना कोई सामान्य बात तो नहीं है एक विशेष बात है। तीर्थंकर बनकर उनके परिणाम किंचित् भी विकृत नहीं होते, उनके विचार एक क्षण के लिये भी अशुभ नहीं आते, उनके मुख से किंचित् भी अशुभ वचन नहीं निकलते हैं, उनके शरीर की क्रिया अशुभ नहीं होती है। इस प्रकार की विशेषता उन्होंने किस प्रकार प्राप्त की ? यदि अर्जुन विशिष्ट धनुर्धारी बना तो क्या वह एक दिन में बन गया? संभव है उसने रातों रात मेहनत की होगी, उसने सब भौतिक सुखों का परित्याग

किया होगा तब वह इतना निष्णात हुआ होगा। तीर्थंकर बन चुके जो महापुरुष हैं निश्चित ही उन्होंने पूर्वभव में उस तीर्थंकर प्रकृति के बंध करने के लिये अपने मन को बाँधा होगा।

उन्होंने अपने मन को किस प्रकार बाँधा होगा, यूँ तो ये मन बँधने में आता नहीं है उन्होंने मन को बाँधने से पहले वचनों को बाँधा होगा, वचनों को बाँधने से पहले शरीर को बाँधा होगा क्योंकि शरीर चंचल रहेगा तो मन स्थिर नहीं रहेगा, वचन भी स्थिर न रह सकेंगे अन्तर्जल्प चलता ही रहता है। तो पहले शरीर को स्थिर करें यदि हमारा शरीर चंचल है और हम चाहें कि हमारा मन स्थिर हो जाये तो यह कठिन है। किसी पात्र में पानी रखा है वह पात्र (काय) ही हिलता चला जा रहा है और उस पात्र में डंडा (वचन) लेकर वह जल हिलाते चले जा रहे हैं, यदि उसमें कोई पंखा (मन) लगा दिया तो पानी और हिल रहा है इस तरह पानी तीनों तरह से हिल रहा है। इसके लिये पहले पात्र का हिलना रोकें, फिर उस डंडे के हलन-चलन को रोकें, उसके बाद जो पंखा चल रहा है उसे रोकें तब तो ठीक है। यदि अकेले पंखे को बंद कर दें पात्र व डंडे का हलन-चलन नहीं रोकें तो पानी स्थिर नहीं हो सकता। सबसे पहले शरीर को स्थिर करना ही पड़ेगा पुनः वचनों के अन्तर्जल्प को भी स्थिर करें। इन सबको नियंत्रित करके ही मन को नियंत्रित किया जा सकता है। इसलिये छः आवश्यक कर्त्तव्य हैं शरीर-वचन व मन को स्थिर करने के लिये। तीर्थंकर प्रभु के तीनों योग स्थिर होते हैं। अभी स्थिरता का प्रयास व अभ्यास करने पर ही आगे तीर्थंकर बनने पर यह योग स्थिर हो सकेंगे।

महानुभाव ! उन छः कर्त्तव्यों में से एक-एक कर्त्तव्य में कितना-कितना समय लगाना है ये जरूरी नहीं है। श्रावक के लिये

भले ही जरूरी हो जाये कि पहले वह पूजा करे, फिर उपासना करे, स्वाध्यायादि करे किन्तु साधु के लिये एक कर्त्तव्य में 1 घंटा लगे, चाहे तीन घंटे भी लग जायें जितने समय उसका मन लग जाये। दूसरे कर्त्तव्य को प्रारंभ किया पुनः तीसरे कर्त्तव्य का पालन करते-करते स्थिरता को प्राप्त हो गया। ये ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका परिहार नहीं किया जा सकता। ये आवश्यक कर्त्तव्य आप और हम भी कर सकते हैं। किन्तु तीर्थंकर प्रकृति में कारणभूत आवश्यक कर्त्तव्य तभी बनेंगे जब उन आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों की प्रेरणा में निमित्त बनें। हमारे आँख बंद करके बैठने पर दूसरे व्यक्तियों को आवश्यक कर्त्तव्यों को करने की प्रेरणा नहीं मिलती।

हम अपना धर्मध्यान कर रहे हैं छः प्रकार से उसे देखकर व्यक्ति उस निमित्त से अपना धर्मध्यान कर सकता है। इसीलिये तीर्थंकर प्रभु धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं तो उन्हें इस प्रकार धर्म का उपदेश देना जरूरी होता है जिससे संसारी प्राणी उस मार्ग का अनुसरण करके अपना कल्याण कर सकें। अन्यथा यदि तीर्थंकर प्रभु आहार के लिये ना भी निकलें तब भी उनका कुछ बिगड़ने वाला नहीं है किन्तु वे आहार के लिये निकलते हैं मुनिधर्म का प्रवर्तन करने के लिये। कहा जाता है कि उनसे जीव हिंसा नहीं होती, उनका निहार नहीं होता अतः कमण्डलु पिच्छी की उन्हें आवश्यकता नहीं होती फिर भी पिच्छी और कमण्डलु इन्द्र द्वारा दिये जाने पर दीक्षा के समय तीर्थंकर प्रभु ग्रहण करते हैं क्योंकि उन्हें धर्म की प्रवृत्ति करना है। जिससे अन्य आगे आने वाले मुनि पिच्छी और कमण्डलु को ग्रहण करें, साधना करें सभी तो उनके जैसे नहीं बन सकते हैं, जो बनने वाले हैं वे पूर्व में छः आवश्यक कर्त्तव्यों को करते हैं। सामने वालों को इससे प्रेरणा प्राप्त होती है।

स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, समता, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आदि-आदि कर्त्तव्यों से दूसरों को प्रेरणा प्राप्त होती है और स्वयं के अंदर अपनी आत्मा को स्थिर करने की क्षमता प्राप्त होती है। प्रत्येक क्रिया एकाकी नहीं है उनकी उस क्रिया से दूसरों को भी लाभ प्राप्त होता है अन्यथा वे कह दें कि छह आवश्यकों की आवश्यकता नहीं मात्र ध्यान करने बैठ जाओ, केवल ध्यान करने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता कर्मों का क्षय होता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है कि मैं संसार के प्राणियों को किस प्रकार से, कौन से कार्य से संसार के मार्ग से विरक्त कराके धर्म के मार्ग में प्रेरित कर सकूँ। मेरी कौन सी क्रिया-चर्या से इनका कल्याण हो सकता है। इस प्रकार जो आवश्यक कर्त्तव्य हैं वे तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारण बन जाते हैं क्योंकि वे आवश्यक कर्त्तव्य आत्म कल्याण के साथ-साथ पर कल्याण के भी हेतु होते हैं।

महानुभाव! इन आवश्यक कर्त्तव्यों का कभी परिहार नहीं किया जा सकता है इन्हें टाला नहीं जा सकता, प्रत्येक श्रावक और श्रमण को इन आवश्यकों का पालन निष्ठा के साथ, विशुद्धि के साथ, निरतिचार रूप से करना चाहिये। जो पालन नहीं कर पाते हैं नि:संदेह उनके माध्यम से लोक कल्याण नहीं हो सकता। लोककल्याण के लिये अच्छी-अच्छी क्रियायें बहुत जरूरी हैं, अच्छे-अच्छे कर्त्तव्यों का पालन करना जरूरी है जिससे लोककल्याण भी हो। महानुभाव ! ऐसी तीर्थंकर प्रकृति आप सभी भी प्राप्त कर सकें, आप भी अपना कल्याण करने के साथ-साथ लोक कल्याण में भी निमित्त बन सकें मैं आपके प्रति ऐसी भावना भाता हूँ और इसी भावना के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

आवश्यकापरिहाणि भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

सामायिकादिषट्कस्य यथाकालं प्रवर्तनम्।
भवेदावश्यकाहानिर्यथोक्त विधिना मुनेः॥६३/३२८

(उत्तर पुराण)

मुनियों के छः आवश्यकों में आगम के अनुसार प्रवृत होना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

२. षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।

(सर्वार्थसिद्धि)

छह आवश्यक क्रियाओं को यथा समय करना आवश्यकापरिहाणि है।

३. इत्यतीचारनिर्मुक्तं षडावश्यकमञ्जसा।
प्रमादे न विना कुर्यात्काले काले स यत्नतः॥९४॥

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

प्रमादरहित होकर समय-समय पर यत्नपूर्वक सम्यक् प्रकार से निरतिचार षट्‌आवश्यकों का निरन्तर पालन करना आवश्यकापरिहाणि है।

आवश्यकक्रियाणां षण्णां काले प्रवर्तनं नियते।
तासां सापरिहाणिर्ज्ञेया सामायिकादीनाम्॥३४/१४२॥

-हरिवंश पुराण

सामायिक छह आवश्यक क्रियाओं की नियत समय में प्रवृत्ति करना सो आवश्यकापरिहाणि नामक भावना है।

४. सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वं, चतुर्विंशति जिनानां स्तुतिः स्तवः कथ्यते, एकजिनस्य स्तुतिर्वन्दनाभिधीयते कृतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमण, आगामिदोषनिराकरणं प्रत्याख्यानं एकमुहूर्तादिषु शरीरव्युत्सर्जनं कायोत्सर्गः एतेषां षण्णामावश्यक नाम परिहाणिरेका चतुर्दशी भावना।

-भावपाहुड टीका

सामायिक में सब जीवों के प्रति समता भाव होना, स्तव अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना, वन्दना अर्थात् एक तीर्थंकर की स्तुति करना, प्रतिक्रमण अर्थात् लगे हुए दोषों का निराकरण करना और कायोत्सर्ग अर्थात् एक मुहूर्त आदि के लिए शरीर से ममत्व भाव छोड़ना इन छह आवश्यक कार्यों को नहीं छोड़ना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

अवश्यमेव कर्त्तव्यं आवश्यकस्य पालनम्।
भावना क्षय-कर्मस्य, तीर्थंकरस्य कारणम्।।

षड़ावश्यकों का पालन अवश्य ही करना चाहिये यह आवश्यकापरिहाणी भावना कर्मक्षय तथा तीर्थंकर प्रकृति का कारण है।

इत्येतासां षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते।

–तत्त्वार्थवार्तिकम्, आ. अकलंकदेव स्वामी

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवयक क्रियाओं को यथाकाल बिना नागा किये स्वाभाविक क्रम से करते रहना आवश्यकापरिहाणि है।

१५. मार्ग प्रभावना भावना

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत सोलह भावनाओं की चर्चा कर रहे थे। विगत दिन बात कर रहे थे आवश्यकापरिहाणि भावना के संबंध में। आवश्यक कर्त्तव्य किये बिना, अपने समय का सदुपयोग किये बिना अशुभ से बच नहीं सकते। व्यक्ति जब किसी अच्छे कार्य में संलग्न नहीं होता है तो बुरे कार्य करने के ख्याल मन में आने लगते हैं। जो व्यक्ति अपना समय आवश्यक कार्यों में लगाता है तो उनसे हुये निर्मल परिणाम स्वयं के कल्याण में तो निमित्त हैं ही किन्तु अपने द्वारा किये गये आवश्यक कार्य दूसरों के लिये प्रेरणा बन जाते हैं।

जैसे किसी दूसरे को पूजा, उपवास, स्वाध्याय आदि करते देख उन जैसा करने की भावना जाग्रत होती है ऐसे ही श्रमण जब अपने आवश्यक कर्त्तव्यों में संलग्न रहते हैं तब अन्य श्रमणों को उस प्रकार का समय सदुपयोग करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। चाहे वे 24 तीर्थंकरों की स्तुति कर रहे हों, चाहे वे वंदना कर रहे हों किसी तीर्थंकर विशेष की, चाहे वे अतीत काल में लगे दोषों के निराकरण के लिये प्रतिक्रमण कर रहे हों या भविष्य के दोषों से बचने के लिये प्रत्याख्यान कर रहे हों अथवा वर्तमान में अपने मन को धर्मध्यान में लगाये रखने के लिये स्वाध्याय या कायोत्सर्ग कर रहे हों इत्यादि कार्यों को करने से, समतामय परिणाम बनाये रखने से वे साधक दूसरों के लिये निमित्त बनते हैं।

आगे बता रहे हैं कि षड्आवश्यकों का पालन करते-करते भी जब मन अस्थिर होने लगता है तो पुनः सम्यक्त्व के आठवे अंग का ख्याल करना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी शक्ति के अनुसार आठों अंगों का पालन करता है। निःशंकित अंग का पालन करता

है शंका नहीं करता। धर्म ध्यान करते हुये आकांक्षा नहीं रखता, धर्म-धर्मात्मा- धर्म के फलों से ग्लानि नहीं करता, मूढता का कोई कार्य नहीं करता विवेकपूर्वक सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की पहचान कर समीचीन सम्यक् मार्ग को स्वीकार करता है और धर्म की कहीं निंदा हो रही हो या किसी धर्मात्मा के माध्यम से धर्म मलिन हो रहा हो तो उसका प्रक्षालन, प्रमार्जन करता है उन वंचनाओं को दूर करता है। इसके साथ-साथ यदि किसी व्यक्ति की शक्ति में हीनता या क्षीणता होने से या अन्य किसी कारण से अल्पज्ञतावश, प्रमादवश वह यदि सम्यक्त्व या अपने संयम से च्युत हो रहा हो तो उसे पुनः उसमें स्थापित कर देता है और अपने यूथ के प्रति, साधर्मी के प्रति वात्सल्य भाव रखता है। किन्तु इसके साथ-साथ शक्तिअनुसार धर्म की प्रभावना अवश्य करता है।

देखो-श्रावक भी प्रभावना करता है वह एकांत में बैठकर भगवान् की पूजा कर सकता है किन्तु वह कभी-कभी भगवान् की पूजा महोत्सव के रूप में करता है, अनेक व्यक्तियों को सम्मिलित कर महापूजा, महार्चना, महायज्ञ करता है। स्वाध्याय भी करेगा तो ऐसा जिससे अनेक लोगों को लाभ मिले, उस लाभ के साथ-साथ लोगों को प्रेरणा भी मिलती है। वह सोचता है मैं किस प्रकार जिनशासन की प्रभावना करूँ।

'दान तपो जिनपूजा'-वह दान के माध्यम से प्रभावना करता है। वह अपने धन को परोपकार में लगाता है, दीन-दुखियों के लिये, पशु पक्षियों के लिये भी लगाता है। वह सोचता है जो त्यागीव्रती धर्मात्मा हैं उनके धर्म का मैं आधार बनूँ तो बहुत दान देता है। क्योंकि वह कहता है मुझे स्वयं भोजन करने मात्र से आनंद नहीं आता जितना आनंद मैं किसी धर्मात्मा को भोजन कराकर प्राप्त करता हूँ। मुझे स्वयं किसी अच्छी चीज का प्रयोग करने में आनंद नहीं आता जैसे अपना

मकान भले ही छोटा सा है किंतु उसने साधुसंतों के, त्यागीव्रती-धर्मात्माओं के लिये धर्मशाला बनवा दी। मेरे द्वारा निर्मापित धर्मशाला में धर्मात्मा रहते हैं इसे देख मुझे बहुत आनंद आता है। यदि मेरे पास पर्याप्त पैसा है तो मेरा मन कहता है जितने से मेरा काम चल जाये उतना काम चला लूँ शेष को वहाँ खर्च करना चाहिये जिसको इसकी बहुत आवश्यकता है। उसकी इस क्रिया को देखकर अन्य व्यक्ति भी प्रभावित हो जाते हैं।

अकलंक और निकलंक मान्यवर खेट नगरी के राजमंत्री के पुत्र थे, निकलंक ने धर्म की रक्षा के लिये अपना बलिदान दे दिया। अकलंक स्वामी ने एकांतवादियों को वाद विवाद में हरा जैन धर्म की महती प्रभावना की थी।

उज्जैन के राजा हिमशीतल की दो रानियाँ थी, उनमें से एक जैनधर्म की अनुयायी थी और दूसरी बौद्धधर्म की अनुयायी थी। एक बार पहले किसका रथ निकले इस बात पर विवाद हो गया, तब राजा ने कहा-जैनों और बौद्धों का राज्यसभा में वाद-विवाद हो और जो उसमें जीत जाये उसकी रथयात्रा पहले निकाली जायेगी।

बौद्धों की ओर से संघश्री तथा जैनों की ओर से अकलंक देव के बीच वाद-विवाद हुआ। जब संघश्री हारने लगे तो उन्होंने कहा महाराज! मेरे सिर में चक्कर आ रहे हैं इसलिये यह वाद-विवाद कल के लिये रखा जाये। दूसरे दिन संघश्री ने एक पर्दे के पीछे बैठकर वाद-विवाद किया, अकलंक देव ने प्रश्न किया और संघश्री ने जवाब दिया।

यह वाद-विवाद 6 माह तक चला, एक दिन रात्रि में जिनशासन की भक्त यक्षणी देवी ने रात्रि में आकर अकलंक स्वामी को बताया कि यह वाद विवाद संघ श्री नहीं अपितु एक देव को घट में स्थापित

कर लिया है। वही आपके प्रश्नों का जवाब देते हैं। अगले दिन वाद-विवाद के लिये सभी उपस्थित हुये-अकलंक देव ने कहा-संघ श्री आपने जो जवाब दिया वह यहाँ उपस्थित नागरिक सुन नहीं पाये पुनः बात कहो। परंतु अंदर से किसी के बोलने की आवाज नहीं आयी, तब अकलंक स्वामी ने पर्दे को हटाकर घट हाथ में उठाते हुये कहा-जब संघश्री वाद-विवाद करने में समर्थ न हो सके तब उन्होंने सिरदर्द का बहाना बनाया और किसी प्रकार विजय प्राप्त करने के लिये रात्रि में विद्या द्वारा एक देवी को साधा है, पर्दे के पीछे संघश्री नहीं मटके में उपस्थित देवी बोल रही थी। देव-देवियों की विशेषता होती है वे एक प्रश्न का उत्तर पुनः नहीं बोलते। अतः जब मैंने प्रश्न का उत्तर पुनः चाहा तो अंदर से कोई आवाज नहीं आयी।

राजा ने कहा-रे रे धर्म के नाम पर इतना कपट। और अकलंक स्वामी व जिन धर्म से प्रभावित होकर जिन धर्म स्वीकार किया और घोषणा की कि जिनधर्म का रथ सर्वप्रथम निकलेगा और रथयात्र में मैं ही भगवान् के रथ का सारथी बनूँगा। खूब जोर-शोर से यात्रा निकली जिनधर्म की महान् प्रभावना हुयी। महानुभाव ! सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान, तप वैभव व अनेक महोत्सवों द्वारा जिन धर्म की प्रभावना करता है।

प्रभावना का अर्थ होता है कि मेरी आत्मा भी प्रभावित हो जाये। धर्म को ऐसे करना है जिससे प्रभावना हो जाये। यदि तुम्हारा कंठ मधुर है स्पष्ट उच्चारण कर सकते हो तो भगवान् की स्तुति वंदना आदि गाकर ऐसे करो जिससे तुम्हें बहुत आनंद आये केवल तुम्हें ही नहीं अपितु जो-जो भी सुने उसे भी आनंद आये। वह भी कहे कि अभी तक तो मैं राग-द्वेष से भरे गीत-गजल गाता बनाता था परंतु अब मैं अपनी शक्ति का प्रयोग प्रभु भक्ति में लगाऊँगा। मेरे कण्ठ के माध्यम से मात्र मुझे पुण्य बंध नहीं होगा, मेरे कण्ठ के माध्यम से अनेकों व्यक्तियों को भी पुण्यकार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

यदि तुम्हारे शरीर में सामर्थ्य है तीर्थयात्रा करो, साथ में पर्याप्त धन है तो दूसरों को भी तीर्थयात्रा कराओ इस कार्य के करने से तुम्हें जिनशासन की प्रभावना करने का पुण्य मिलेगा, क्योंकि वह तीर्थयात्रा आपने अकेले नहीं कि अनेक व्यक्तियों को करायी आपकी इस प्रवृत्ति को देखकर के दूसरे लोग भी विचार करेंगे कि मैं भी अपने धन का इसी प्रकार से सदुपयोग करूँ। आपके द्वारा धन का सदुपयोग करना प्रभावना का कारण बन गया। ऐसे ही आप अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये अच्छा शास्त्र लायें फिर आपने उस शास्त्र की कई प्रतियाँ मँगायी या छपवाई इससे जो व्यक्ति उन शास्त्रों को अभी तक नहीं पढ़ पा रहे थे उन्हें उन शास्त्रों का लाभ हुआ और आपने जगह-जगह उन शास्त्रों को भिजवाया इस तरह आपने अपने द्रव्य का सदुपयोग किया इससे आपका तो ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम बढेगा ही इसके साथ-साथ लोगों को भी प्रेरणा प्राप्त होगी।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति दूषित परम्परा को प्रारंभ करता है, नयी रूढि, नयी रीति चलाता है जो कि पाप की संवर्धक है जैसे किसी व्यक्ति ने यज्ञ आदि में पशुओं की बलि देना प्रारंभ कर दिया तो वह तो पाप की परम्परा चलाकर मृत्यु को प्राप्त हो गया किन्तु उसे उस परम्परा से पाप ही पाप लगता रहेगा। और इसके विपरीत एक व्यक्ति ऐसी परम्परा चला कर गया है कि हमारे घर में कोई भी मंगल कार्य हो उससे पूर्व हम भगवान् की पूजा करेंगे, हमारे यहाँ बच्चों का जन्मदिवस भी ऐसे मनाया जाता है कि उस दिन बच्चों को मंदिर ले जाते हैं, उनके हाथों से श्रीफल चढ़वाते हैं, उसके नाम से शांतिध ारा करते हैं जितनी उसकी उम्र है उतने या इच्छानुसार दीपक चढ़ाते (जलाते) हैं, हमारे यहाँ दीप जलाने की परम्परा है बुझाने की नहीं।

इसके उपरांत बालकों को ऐसे संस्कार दिये जाते हैं कि पहले पूजन करो उसके बाद में घर में महोत्सव मनायेंगे। हम अपने कार्यक्रमों के

पूर्व व पश्चात् गुरुओं की वंदना करने जाते हैं, तीर्थों की वंदना करने जाते हैं उनका आशीर्वाद लेते हैं। हम धार्मिक मंगलाचार किये बिना अपना कोई भी कार्य प्रारंभ नहीं करते। यहाँ तक कि प्रत्येक दिन की शुरूवात में भी हम सर्वप्रथम भगवान् का नाम लेते हैं। जिनेन्द्र प्रभु के स्तोत्रों का, मंगलाष्टक आदि पाठ करते हैं। इससे हमारे अंदर वैसे संस्कार प्रवेश करते चले जाते हैं उसे देखकर के अन्य व्यक्तियों में भी ऐसे शुभ संस्कार आते हैं।

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर होटल में जाना, अभक्ष्य खाना-खिलाना, अभद्र संगीत पर नृत्य करना, रात्रि में कार्यक्रम करना यह जिनशासन की विरोधी परम्परा है, जिनशासन का विध्वंस करने वाली परम्परा है। धर्म का लोप करने वाली परम्पराओं को हमें रोकना चाहिये। आपने एक नयी परम्परा चली दी हमारे नगर में शादियाँ दिन में ही होंगी, भोजन सबको दिन में ही मिलेगा। आप बड़े व्यक्ति हैं आपने नयी परम्परा चला दी तो इसका प्रभाव सर्वत्र फैलेगा। यदि आपने नियम ले लिया कि मैं रात्रि के कार्यक्रम (भोज) आदि नहीं ग्रहण करूँगा इससे प्रभावित होकर 10-20-40 व्यक्तियों ने नियम ले लिया तो यह आपने अच्छी परम्परा की शुरूवात कर दी।

दीपावली पर खूब आतिशबाजी होती है आपने अपने घर में कह दिया बच्चों मेरा नियम है मैं अब हिंसाकारक आतिशबाजी नहीं करूँगा। हर साल हजारों रुपये मैं इसमें खर्च करता हूँ इससे तो मैं नियम लेता हूँ कि किसी गरीब व्यक्ति की सहायता करूँगा, इस द्रव्य के माध्यम से उपकार करूँगा। अथवा उन घरों में दीपावली मनाना सार्थक होगा जहाँ बच्चों के पास जलाने को दीप, खाने को मिठाई व पहनने को वस्त्र भी नहीं। यदि उन घरों में जाकर हम अपने उस धन का सदुपयोग करें तो वह दिवाली सच्ची दिवाली कहलायेगी।

महानुभाव ! इसके अतिरिक्त हम वहाँ सहायता करें जहाँ पर सहायता करने से पूर्व ही कह दें कि मैं तुम्हारी सहायता तब करूँगा जब तुम जीवन भर के लिये गंदे अभक्ष्य पदार्थ (अंडा-माँस-शराबादि) का त्याग करो। आपने यह नियम दे दिया, उससे दया धर्म का पालन कराया इससे आपने उसे धर्म के मार्ग में लगा दिया। ऐसे कार्य करना नि:संदेह दीर्घकाल तक प्रभावना करना है।

प्रभावना किसकी करना ? यहाँ पर शब्द कहा गया 'मार्ग प्रभावना' कुछ लोग अपने नाम की प्रभावना करते हैं, लोग मुझे जान जायें, किन्तु सोलह कारण भावनाओं में कह रहे हैं शाश्वत जिनमार्ग, अर्हत् मत की, मोक्षमार्ग की प्रभावना करना है अर्थात् उस धर्म के मार्ग को हम ऐसे प्ररूपित करें जिसे देखकर दूसरों के मन में धर्म करने की भावना जाग्रत हो जाये यह मार्ग प्रभावना कहलाती है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है-

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सतत मेव।
दान-तपो-जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्म:।।

रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावना युक्त करना चाहिये और यथाशक्ति दान देकर, तप धारण करके, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करके ज्ञान की महिमा द्वारा जिन धर्म की, सच्चे मार्ग की मार्ग प्रभावना करना चाहिये।

साधक बनकर हम साधना कर रहे हैं किन्तु यदि हमारी व्यवहार क्रियाओं से, लौकिक क्रियाओं से किसी की धर्म के प्रति श्रद्धा-आस्था टूटती है, खण्डित होती है चाहे भले ही हम निश्चय में डूबे रहें किन्तु यदि बाहर की क्रिया लोक व्यवहार के विरुद्ध है तो जिनशासन की प्रभावना न होकर अप्रभावना हो जायेगी। प्रभावना करने की सबसे पहली शर्त ये है कि हम अप्रभावना के कार्यों से बच जायें। हमारी

चर्चा, आचार, व्यवहार सब कुछ सुव्यवस्थित होना चाहिये। साधक की प्रत्येक क्रिया चर्या प्रभावना में निमित्त बन सकती है और वह अप्रभावना में भी निमित्त बन सकती है। क्योंकि साधक एक आदर्श पुरुष माना जाता है वह अपनी क्रिया चर्या को इतनी व्यवस्थित रखता है कि अप्रभावना न हो। जब वह बोले तो हितमित प्रिय बोले इतना कटु न बोले कि जिसे सुनकर सामने वाले का हृदय ही विदीर्ण हो जाए इससे अच्छा तो मौन ले ले। सर्वप्रथम यहीं देखें कि हमारी किसी क्रिया चर्या से धर्म की निंदा तो नहीं हो रही, हमारे निमित्त से कहीं जिनधर्म का मार्ग कलंकित तो नहीं हो रहा, इसलिये पहले इससे बचने का प्रयास करो।

स्वयं प्रभावित होना व दूसरों का प्रभावित हो जाना यही वास्तव में प्रभावना है। यह जिनशासन अनादिनिधन है हमें उस मार्ग पर कैसे गमन करना है ? हमें ऐसे चलना है कि हमारे चलने को, क्रिया को देखकर दूसरे भी चलने लग जायें। कई बार लोग बड़े-बड़े महोत्सव व रथ यात्रायें निकालते हैं किन्तु उसमें जब चलते हैं तो बड़े ही अव्यवस्थित ढंग से चलते हैं अर्थात् बहुत बड़ा धन व्यय करने के बाद भी धर्म की सही प्रभावना नहीं कर पाते। आज महावीर भगवान् की जन्म जयंती है सभी श्रावकों के प्रतिष्ठान बंद रहेंगे, सभी जुलूस में आयेंगे, श्रीजी की रथ यात्रा में सभी व्यवस्थित अनुशासित चलेंगे, महामंत्र का जाप उनकी स्तुति भक्ति करते हुये चलेंगे ऐसी सुव्यवस्था बनाने से जो धर्म प्रभावना होगी उससे लोगों की श्रद्धा-आस्था अपने आराध्य के प्रति दृढ़ होगी।

जो मार्ग की प्रभावना करता है वह उस मार्गप्रभावना की भावना से भविष्य में तीर्थ का प्रवर्तन करने वाला हो सकता है। जो जीवन में मार्ग की प्रभावना न करके अपनी प्रभावना करता है, इस माटी के शरीर की प्रभावना करता है उसे जिनशासन का नेतृत्त्व करने

का अवसर कैसे प्राप्त हो सकता है? इसलिये प्रभावना करनी है तो उस अनादिनिधन जिनशासन की करनी है। वह प्रभावना प्रत्येक सम्यक्दृष्टि का अंग है, प्रत्येक संयमी का कर्त्तव्य है। जो प्रभावना को उपेक्षित कर देता है तो यूँ समझना चाहिये कि उसका सम्यक्त्व निर्मल नहीं है।

प्रभावना अंग को तो शरीर के आठ अंगों में सिर की उपमा दी जाती है। सिर यदि नहीं होगा तो व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। जो प्रभावना नहीं करता है वह अपने सम्यक्दर्शन को नष्ट करना चाहता है। इसलिये श्रावक हो या श्रमण, चाहे आर्यिका हो या श्राविका, विद्वान् हो या अल्पज्ञानी, तपस्वी हो या साधक उसे अपनी क्रिया चर्या ऐसी करनी है जिसके माध्यम से जिनशासन की, जिनमार्ग की प्रभावना हो। यही मार्ग प्रभावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य कारण है। आप सभी लोग शक्तिअनुसार जिनशासन की प्रभावना करें और अपनी साधना को वृद्धिंगत करें मैं आप सभी के प्रति ऐसी भावना भाता हुआ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय।''

मार्गप्रभावना भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

१. ज्ञानेन तपसा जैनपूजयाऽन्येन चापि वा।
धर्मप्रकाशनं प्राज्ञाः प्राहुर्मार्गप्रभावनाम्॥६३/३२९

–उत्तरपुराण

ज्ञान से, तप से, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा से अथवा किसी अन्य उपाय से धर्म का प्रकाश फैलाने को विद्वान् लोग मार्ग प्रभावना कहते हैं।

२. ज्ञानतपोदान-जिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना।

(सर्वार्थसिद्धि)

ज्ञान तप, दान और जिनपूजा इनके द्वारा धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

३. ज्ञानरविप्रभया परसमयखद्योतोद्योततिरस्कारिण्या, सत्तपसा महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टरप्रकम्पनहेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभया, सद्धर्म प्रकाशनं मार्गप्रभावनामिति संभाव्यते।

राजवार्तिक–आ.अकलंक देव स्वामी

पर समय रूपी जुगनुओं के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञानरवि की प्रभा से इंद्र के सिंहासन को कँपा देने वाले महोपवासादि सम्यक् तपों से तथा भव्यजन रूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्यप्रभा के समान जिन पूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है।

४. आगमट्ठस्स पवयणमिदि सण्णा। तस्स पहावणं णाम वण्णजणणं तव्वुड्ढिकरणं च तस्य भावो पवयणप्पहावणदा।

धवला जी. पु. 8

आगमार्थ का नाम प्रवचन है, उसके वर्णजनन अर्थात् कीर्ति विस्तार

या वृद्धि करने को प्रवचन की प्रभावना और उसके भाव को प्रवचन प्रभावनता कहते हैं।

परमतभेदसमर्थज्ञानतपोजिनमहामहैर्जगति।
मार्गप्रभावना स्यात्प्रकाशनं मोक्षमार्गस्य॥३४/१४७॥

–हरिवंश पुराण

अन्यमतों के खण्डन करने में समर्थ ज्ञान, तपश्चरण एवं जिनेन्द्र भगवान् की महामह–पूजाओं से संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है।

५. मार्ग प्रभावनां सोऽधाज्जैने धर्मे सुखार्णवे।
लोक भक्त्या तपोज्ञानाद्याचारैर्दुः करैः सदा॥९५॥

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

लोक में सदा भक्ति पूर्वक अतिशय कठिन तप तथा ज्ञान आदि आचारों द्वारा सुख के सागर स्वरूप जैनधर्म में मार्ग प्रभावना होती है।

६. ज्ञानादिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना।

भावपाहुड टीका

ज्ञानादि के द्वारा धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है।

प्रभावना सदा कुर्याद्–धन–ज्ञान–तपो बलैः।
भावना जिनवृषभस्य–तीर्थंकरस्य कारणम्॥

धन, ज्ञान, तप और बल द्वारा सदा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये यह मार्ग प्रभावना तीर्थंकर प्रकृति की कारण है।

१६. प्रवचन-वत्सलत्व भावना

महानुभाव ! कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ होती हैं उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस। यूँ तो कोई भी कर्म अच्छा नहीं माना जाता फिर भी संसार की अपेक्षा से पुण्य कर्म अच्छा माना जाता है। पाप प्रकृतियों को दुःख की सृजग, जनक और कारण होने से बुरा माना जाता है। पुण्य प्रकृतियों में भी साता वेदनीय, उच्च गोत्र, शुभायु, शुभनाम इत्यादि प्रकृति अच्छी होती हैं, इन पुण्य प्रकृतियों में सबसे शुभ, उत्कृष्ट प्रकृति तीर्थंकर प्रकृति होती है। उस प्रकृति के उदय से लोकातिशायी अतिशय प्राप्त होते हैं। परम अभ्युदय की प्राप्ति होती है। स्वर्ग का वैभव तीर्थंकर प्रकृति के समय चरणों में लोटा-लोटा फिरता है। तीर्थंकर प्रकृति के उदय के समय ऐसा लगता है स्वर्ग धरा पर आ गया हो।

मध्यलोक में विद्यमान सभी पुण्यात्मा चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी तीर्थंकर की चरणरज पाने को लालायित रहते हैं। इतनी महान् है वह पुण्य प्रकृति कि उसके उदय से वह जीव उस ही भव में मोक्ष जाता है। अन्य किसी प्रकृति के उदय से जीव मोक्ष जाये या न जाये कोई भी नियामक संबंध नहीं है किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का उदय जिस भव्य जीव के जिस पर्याय में आता है उस पर्याय से उसका मोक्ष नियम से होता ही होता है।

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि पंद्रह भावनायें देखी थीं सभी भावनाओं का आधार दर्शनविशुद्धि भावना था और सभी भावनाओं का उपसंहार है प्रवचन वत्सलत्व। यूँ तो वात्सल्य सम्यग्दृष्टि का एक अंग होता है जैसे शरीर में आठ अंग होते हैं ऐसे ही वात्सल्य भी एक धर्म का, सम्यक्त्व का अंग है और इस अंग को उपमा दी जाती है हृदय की। जिस प्रकार शरीर में हृदय बहुत महत्त्वपूर्ण होता है हृदय अपनी गति करना बंद कर दे

तो वह व्यक्ति जी नहीं सकता, उसका शरीर मुर्दा हो जायेगा ऐसे ही यह सम्यक्त्व का वात्सल्य अंग है। जब तक वात्सल्य अपने आप में क्रियाशील है तब तक सम्यक्त्व रूपी शरीर जीवित है। यदि वात्सल्य रूपी हृदय ने काम करना बंद कर दिया तो वह व्यक्ति ध र्म से च्युत हो जाता है।

अपने धर्म की रक्षा करना भी वात्सल्य के माध्यम से संभव है, दूसरों के धर्म की रक्षा करना भी वात्सल्य से संभव है, दूसरों को धर्ममार्ग की प्रेरणा देना भी वात्सल्य से संभव है। यह वात्सल्य अंग बहुत महत्त्वपूर्ण है अतः इसे तीर्थंकर प्रकृति की निमित्त सोलहकारण भावनाओं के अन्तर्गत भी सम्मिलित किया गया है। बिना वात्सल्य के जब सम्यक्त्व का निर्दोष पालन नहीं किया गया तो बिना वात्सल्य भावना के तीर्थंकर प्रकृति का बंध तो असंभव ही मानना चाहिये। तीर्थंकर प्रकृति के बंध में दर्शनविशुद्धि भावना को मुख्य माना जाता है उसके साथ कोई भी भावना हो तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है किन्तु मेरा मानना यह है कि जहाँ पर दर्शनविशुद्धि भावना होती है वहाँ पर नियम से वात्सल्य भावना होती ही होती है। बिना वात्सल्य भावना के कोई भी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकता।

जहाँ दर्शनविशुद्धि भावना होती है, दृष्टि में निर्मलता आती है वहाँ पर साधर्मी बन्धुओं में विद्यमान धर्म दिखाई देने लगता है और जिसका धर्म के प्रति अनुराग है उनका साधर्मी के प्रति अनुराग सहज में ही हो जाता है। अब यहाँ कह रहे हैं-वात्सल्य। वात्सल्य का अर्थ लोग 'प्रेम' से लगाते हैं। किन्तु प्रेम और वात्सल्य अलग-अलग हैं। वात्सल्य का अर्थ राग नहीं है, प्रेम, मोह, रति नहीं है। ये सभी शब्द अलग-अलग हैं।

मोह शब्द का अर्थ होता है-अपने स्वरूप को भूलकर पर स्वरूप को अपना मान लेना। **राग**- शब्द का अर्थ होता है-पर की विशेषताओं

में लीन होना। **रति** शब्द का अर्थ होता है-विस्मृत होकर के कुछ देर के लिये, उसकी किसी क्रिया में आसक्त होकर के आनंद खोजना। **प्रेम** शब्द का अर्थ होता है-सबके प्रति सामान्यत: व्यवहार करते हुये उसमें ऐसा सुख का साधन पैदा कर लेना जिससे उसे आनंद प्राप्त होता रहे। तो प्रेम उतना खतरनाक नहीं है जितना खतरनाक मोह और राग, रति व आसक्ति होती है किन्तु प्रेम भी मोक्ष का कारण नहीं है, प्रेम के माध्यम से आनंद की अनुभूति तो हो सकती है किन्तु इन्हें धर्म और मोक्ष का नियामक हेतु नहीं कहा जा सकता किन्तु हाँ यह बात अवश्य है जिसके चित्त में वात्सल्य भाव है वात्सल्य का झरना बह रहा है ऐसा चित्त कभी भी धर्म से शून्य नहीं हो सकता।

जैसे किसी भी सरोवर में ठंडा पानी है हवा जब उसे स्पर्श करके जाती है तो लोगों का चित्त हर्षित व आनंदित करती है उस सरोवर में कमल खिलने लगते हैं। ऐसे ही जिस चित्त में वात्सल्य का नीर भरा हुआ है उसमें गुणों के कमल खिलने लगते हैं और वात्सल्य से संस्पर्शित करती हुयी व्यवहार की हवा जिस किसी का भी सं. स्पर्श करती है तो उसे भी आनंद देने में समर्थ होती है, उसकी भी व्याकुलता, दु:ख, वेदना, पीड़ा क्षणभर के लिये नष्ट हो जाती है।

एक बार इंग्लैण्ड के बादशाह ने अपनी राजसभा में सभासदों से प्रश्न किया-भारत के बादशाह ज्यादा क्यों जीते हैं? मंत्री आदि ने अनेक प्रकार के उत्तर देकर बादशाह को संतुष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन राजा संतुष्ट नहीं हुआ, अंत में निर्णय हुआ कि भा. रत जाकर किसी बादशाह से ही इसका उत्तर पूछा जाये। निर्णय के अनुसार बादशाह ने पाँच सौ सुभटों को भारत के एक बादशाह के पास उत्तर प्राप्त करने के लिये भेज दिया। सुभटों ने आकर यथायोग्य सम्मान पूर्वक बादशाह के सामने प्रश्न रखा। बादशाह ने यह कहकर कि आप पहले अपनी थकान आदि दूर कर लें, प्रश्न टाल दिया, सुभटों ने पुन: वही प्रश्न किया तो बादशाह ने कहा-जहाँ आप लोग

रुके हैं उस मकान के सामने एक बरगद का वृक्ष है जिस दिन वह जलकर भस्म हो जायेगा, उस दिन मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे दूँगा।

सुभटों के मन में यह सुनकर तनाव उत्पन्न हो गया, न जाने कब वह पेड़ भस्म होगा, क्या तब तक हम अपने परिवार से दूर ही रहेंगे? क्योंकि इतना हरा-भरा वृक्ष कभी जल नहीं सकता। वृक्ष के जले बिना बादशाह हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं देगा, और उत्तर प्राप्त किये बिना हम अपने देश नहीं लौट सकते। इस टेंशन में रात-दिन जब भी वे उस वृक्ष को देखते तो सोचते रहते कि हे भगवान् ! यह वृक्ष कब जलेगा। आखिर उन पाँच सौ सुभटों की दुर्भावनाओं के कारण छह माह में ही वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। वृक्ष को जला देख सुभट खुशी से बादशाह के पास गये। बादशाह ने कहा-यही आपके प्रश्न का उत्तर है। भारत की प्रजा अपने बादशाह के प्रति हमेशा सद्भावनायें रखती है उसके अधिक से अधिक जीने की कामनायें करती है इसलिए वह ज्यादा जीता है और उसका कारण यह है कि भारत का बादशाह अपनी प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव रखते हैं।

महानुभाव ! वात्सल्य एक ऐसा मूक उपदेश है जिस उपदेश को संसार के प्रत्येक प्राणी सुन सकते हैं समझ सकते हैं। शब्दों के उपदेश को बहिरा व्यक्ति नहीं सुन सकता और कोई तार्किक उपदेश दिया जाये तो कोई मंद ज्ञानी जिसका क्षयोपशम कम है वह भी नहीं समझ सकता। मन से रहित व्यक्ति आपके वचनालाप को, शिक्षा को ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु वात्सल्य का उपदेश ऐसा है जिसे संज्ञी-असंज्ञी सब सुन सकते हैं, त्रस और स्थावर सब सुन सकते हैं। वात्सल्य से परिपूरित मुनिराज यदि जंगल में भी बैठ जाते हैं तो जंगल में विचरण करने वाले हिंसक जन्तु जानवर भी अपने बैर विरोध को छोड़कर उनके समीप में जाकर बैठ जाते हैं, उनका आश्रय ले लेते हैं।

वात्सल्य का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वृक्ष भी अपनी क्रूरता छोड़कर अर्थात् जिन वृक्षों में काँटे थे वे पुष्प में परिवर्तित हो जाते हैं, सूखे वृक्ष फलीभूत हो जाते हैं, सूखे कूप-सरोवर वापी में जल आ जाता है। सूखा रेगिस्तान जैसा स्थान भी ऐसा लगता है जैसे भूमि बिल्कुल हरित हो गयी हो, मंद सुगंध समीर बहने लगता है क्योंकि वात्सल्य का प्रभाव ऐसा ही होता है। जब किसी छोटे बालक को प्रेम से बुलाओ तो वह आपकी भाषा को नहीं समझता अपितु वह आपकी आँखों में प्रेम देखता है। जैसे गाय अपने बछड़े को निःस्वार्थ प्रेम करती है ऐसे ही तुम्हारे चित्त में सबके प्रति निःस्वार्थ प्रेम की धारा फूट पड़े तो समझ लेना कोई भी व्यक्ति आपके पास आने से रुकेगा नहीं वह न आपकी जाति देखेगा न धर्म, न मत बस वात्सल्य की धारा में अवगाहन करेगा।

जैसे किसी को मालूम पड़ जाये अमुक नदी में शीतल जल बह रहा है तो जिसका शरीर धूप से तपा हुआ है वह स्नान करने के लिये आयेगा वह यह नहीं सोचेगा कि इस नदी का नाम क्या है, इस नदी के पानी में किस रासायनिक पदार्थ की कितनी-कितनी मात्रा है, या यह पानी कहाँ-कहाँ से गुजर कर आ रहा है, कौन से पहाड़ से नदी निकली है इत्यादि किसी भी बात का कोई भी ख्याल नहीं रखता। बस वह तो उस नदी में जाकर अपने भीतर की तपन को दूर करेगा, और आनंद का अनुभव करेगा। ऐसे ही जिन साधु-संत के अंतरंग से वात्सल्य की सरिता बह रही है, जिस योगी के हृदयरूपी महान् पर्वत से वात्सल्य की मोटी धारा बह रही है, उस धारा में संसार के सभी प्राणी बिना बुलाये ऐसे ही आ जाते हैं जैसे खिले हुये पुष्पों के पास भ्रमर आ जाते हैं। थके हुये राही जैसे सघनवृक्ष को देख अपने आप आ जाया करते हैं ऐसे ही वात्सल्य देने वाले के पास सभी पहुँच जाते हैं।

वह वात्सल्य जीवंत धर्म है। 'प्रवचन वत्सलत्व' प्रवचन कहिये तो प्रकृष्ट वचनों को अपनी चेतना में धारण करने वाला साधु पुरुष, ध र्मात्मा वह प्रवचन कहलाता है, उसके प्रति अपने अन्तरंग से वात्सल्य की सरिता बहाना। यदि किसी माता-पिता ने अपने बेटे को हृदय से लगा लिया, किसी भाई ने बहिन को, दादा ने पोते को गले से लगा लिया तो कुछ नहीं किया अभी वात्सल्य की समीपता प्राप्त नहीं की। वात्सल्य में कोई रिश्ते नाते नहीं होते हैं वात्सल्य में केवल एक ही चीज दिखाई देती है वह है धर्म। जिसके पास भी धर्म है वह धर्म की कीमत जानता है वह वात्सल्य में जाकर के सब कुछ भूल जाता है।

महानुभाव ! जब पाण्डव द्यूत क्रीड़ा में अपना सब कुछ हार चुके थे तब वन में रहकर अपना जीवन यावन करने लगे। एक समय पाँचों पाण्डव सहायवन में निवास कर रहे थे। ये सूचना दुर्योधन को मिली तो कलुषित मन के कारण दुर्योधन ने उन्हें मारने के लिये उन पर चढ़ाई कर दी लेकिन रास्ते में उसे चित्रांगद ने बंदी बना लिया और उसकी पूरी सेना का संहार कर दिया। तब दुर्योधन की पत्नी विलाप करने लगी उसे विलाप करते देख भीष्मपितामह ने उससे कहा कि अब दुर्योधन की रक्षा युधिष्ठिर ही करने में समर्थ है तब भानुमति युधिष्ठिर के पास पहुँची और सारी बात उन्हें बतायी। ये जानकर भीम तो बहुत खुश हुए कि जिसके कारण हमें वनवास की यातनायें सहनी पड़ी, जिसने भरी सभा में द्रोपदी को निर्वस्त्र करने का दु:साहस किया और हमारा सब कुछ छीन लिया वह आज बंदी है किन्तु उन्हें आनन्दित देखकर युधिष्ठिर का मन करुणा, दया, वात्सल्य से भर गया और उन्होंने भीम को समझाया कि वह भी हमारा भाई है तथा अर्जुन को मुक्त कराने के लिये भेज दिया। अर्जुन ने चित्रांगद से युद्ध किया और उसकी पूरी सेना को हराकर दुर्योधन को मुक्त कराया और अपने धनुष से बाणों की नसैनी बनायी तथा दुर्योधन को पर्वत के नीचे उतारा और सकुशल उसे उसकी राजधानी को भेज दिया।

महानुभाव ! दुर्योधन जिसने हमेशा बचपन से पाण्डवों का अहित किया, लाक्षागृह में आग लगवायी, वनवास भेजा, उनका अपमान किया और आज भी उन्हें मारने के लिये आया तब भी युधिष्ठिर का मन देखिये उसकी करुणा, दया, वात्सल्य भाव देखिये कि उसने फिर भी दुर्योधन को छुड़वाया और उसका हित चाहा।

महानुभाव ! जब रावण के द्वारा सीता का अपहरण हो गया और जटायू पक्षी मरणासन्न अवस्था में पहुँच गया क्योंकि उसने सीता को बचाने का प्रयास किया और रावण के द्वारा घायल किया गया तब राम ने आकर देखा और पूछा कि तुम्हारी ये हालत कैसे हुई? उसने सब कुछ बता दिया कि सीता माँ का अपहरण हो गया है ये सुनते ही राम बेहोश (मूर्च्छित) हो गये होश में आये तो बहुत दु:खी हुये लेकिन उस अवस्था में जब वे खुद को नहीं सम्हाल पा रहे थे तब भी उन्होंने सब कुछ भूलकर जटायु पक्षी को णमोकार मंत्र सुनाया उसकी समाधि में सहयोगी बने उनके अन्दर प्राणीमात्र के प्रति वात्सल्य का भाव था।

चाहे विष्णुकुमार मुनिराज जो पर्वत पर ध्यान लगाये बैठे थे जिन्हें कुछ ही क्षण में केवलज्ञान की प्राप्ति होने वाली थी लेकिन उन्हें जब क्षुल्लक जी द्वारा पता चला कि हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्यादि 700 मुनिराजों पर उपसर्ग हो रहा है तब उन्होंने अपना ध्यान छोड़कर हस्तिनापुर जाकर उनका उपसर्ग दूर किया। ये होती है वात्सल्य भावना जहाँ धर्म और धर्मी के प्रति ऐसा वात्सल्य भाव होता है कि वह सब कुछ भूलकर पहले उनकी रक्षा करता है।

महानुभाव ! धर्मप्रभावना का साधकतम कारण है वात्सल्य, इसी. लिये सम्यक्त्व के आठ अंगों में प्रभावना के पहले वात्सल्य को रखा है, प्रभावना को बाद में रखा है। यदि वात्सल्य नहीं है तो प्रभावना नहीं कर सकते, वात्सल्य नहीं है तो स्थितिकरण और उपगूहन नहीं कर सकते। वात्सल्य नहीं है तो वह किसी का परोपकार नहीं कर

सकेगा। बिना वात्सल्य के व्यक्ति न तो स्वयं आनंद ले सकता है न दूसरों को आनंद देने में कारण बन सकता है। वात्सल्य अंग कहता है कि यदि किसी में परिवर्तन लाना चाहते हो तो प्रेम से भरो, प्रेम और वात्सल्य से ही किसी के हृदय में पहुँचा जा सकता है। हृदय में पहुँचे बिना हृदय परिवर्तन संभव नहीं।

संत कहते हैं अपने हृदय को विशाल व उदार बनाओ। जिनके हृदय संकुचित होते हैं उनके हृदय में वात्सल्य का सागर नहीं लह. राता। सीप में समुद्र को नहीं भरा जा सकता, अनेक नदियों का पानी समुद्र में आ सकता है अर्थात् जिसका हृदय इतना विशाल होता है उसमें ही वात्सल्य का सागर लहरा सकता है और जिसके हृदय में वात्सल्य का सागर लहरा सकता है वही अनेक जीवों का कल्याण करने में निमित्त बन सकता है और अनेक जीवों के कल्याण में निमित्त बनने वाला व्यक्ति तीर्थंकर बनता है। वही तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकता है।

वात्सल्य चिन चिन के थोड़ा-थोड़ा नहीं बाँटना है, किसी व्यक्ति विशेष को पहचान-पहचान कर नहीं जैसे-

''अंधा बाटे रेबड़ी पुनि-पुनि घर को देय॥

अपने-अपने को देने लग जायें यह वात्सल्य नहीं है। वात्सल्य तो बिना शर्त का सौदा है जैसे समर्पण बिना शर्त का सौदा होता है। अपने इष्ट आराध्य प्रभु परमात्मा के चरणों में अर्पित होता है तो उसकी कोई शर्त नहीं होती, ऐसे ही वात्सल्य देने की कोई कन्डीशन नहीं होती वह किसी को देखकर नहीं दिया जाता है, गुणों के पास स्वयं पहुँच जाता है। सूर्य निकलता है तो ऐसा नहीं कि मैं कमल के पुष्प को तो खिला दूँगा चमेली के फूल को नहीं। जितने फूलों में खिलने की सामर्थ्य है वे सभी सूर्य को देखकर अपने आप खिलने लगते हैं। चन्द्रमा निकलता है कुमुदनी में खिलने की सामर्थ्य है, कुमुदनी

अपने आप खिलने लग जाती है, स्वाती नक्षत्र में पानी गिरता है सीप का मुख अपने आप खुल जाता है ओर प्यासा चातक इंतजारी करता है। ऐसे ही जब बीन बजती है सर्प अपने आप नाचने लगते हैं। जब प्रेम की निर्मल सरिता प्रवाहित होती है तब नि:संदेह भव्य जीव उस सरिता में अवगाहन किये बिना नहीं रहते हैं। जिन पक्षियों को प्यास होती है वे जलाशय के ऊपर ही मँडराते रहते हैं, जिन्हें प्यास नहीं होती, पानी का मूल्य नहीं जानते हैं वे जलाशय से दूर चले जाते हैं।

महानुभाव ! यह प्रवचनवत्सल भावना तीर्थंकर प्रकृति के बंध में एक ऐसी विशिष्ट भावना है जो सभी भावनाओं में सर्वोपरि है। यह तीर्थंकर प्रकृति रूपी मंदिर की नींव है। दर्शनविशुद्धि भावना उस मंदिर के पिलर हैं, अन्य बीच की चौदह भावना दीवार और छत है और उस मंदिर का शिखर और कलश है प्रवचन वत्सल भावना। यदि उस मंदिर पर शिखर व कलश पर ध्वजा नहीं है तो मंदिर मंदिर नहीं कहलाता है ऐसे ही मंदिर की नींव नहीं है तो मंदिर का निर्माण नहीं हो सकता है। वात्सल्य भावना तीर्थंकर प्रकृति रूपी मंदिर की नींव भी है और शिखर भी। अर्थात् प्रारम्भ भी वात्सल्य से होता है और अंत भी। वात्सल्य भावना सभी भावनाओं में अनुस्यूत रूप से रहती है। जिस प्रकार दूल्हे के लिये दो चीज आवश्यक मानी जाती हैं बैठने के लिये घोड़ी हो व सिर पर मोहर हो। यदि मुक्तिसुंदरी से विवाह रचाने के लिये जाना है और संयम के रथ पर सवार हो गये किन्तु प्रवचन वत्सलत्व का सेहरा नहीं बाँधोगे तो मुक्तिसुंदरी से शादी न कर पाओगे, इसीलिये प्रवचन वात्सल्य का सेहरा बाँधना जरूरी है। चाहे शादी में 5000, 50,000 या 50 लाख रूपये खर्च हो अथवा कोई दूल्हा यदि 500 रु. में पूरी शादी करके ले आयेगा तब भी वह अपने सिर पर मुकुट लगाकर तो जायेगा। चाहे वह मोहर 5 रु. का हो या 50 रु. का। ऐसे ही जिसके अंदर वत्सल भावना न हो वह कभी साधर्मी हो ही नहीं सकता।

क्योंकि हमने देखा है कि संसार में ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसके शरीर में हृदय नहीं होता। हृदय नहीं होगा तो वह जी नहीं सकेगा। हृदय सबका समान होता है पेट छोटे-बड़े हो सकते हैं। किसी की भूख एक रोटी की किसी की चार रोटी की हो सकती है या ज्यादा की भी हो सकती है किन्तु हृदय छोटा बड़ा नहीं हो सकता। दर्शनविशुद्धि भावना जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही महत्त्वपूर्ण है प्रवचनवत्सल भावना। जब व्यक्ति अस्वस्थ होते हैं तब हृदय की गति में अंतर आने लगता है। यूँ कहें जब हृदय में कचरा जम जाता है तब उसे साफ करना पड़ता है। कभी-कभी तो आर्टीफिशियल हार्ट प्लाँट भी करना पड़ता है उसके बिना काम नहीं चलता ऐसे ही जिस साधर्मी में वात्सल्य की कमी आने लगती है उसे साधना में आनंद नहीं आता। उसके माध्यम से दूसरों को भी आनंद नहीं आता।

ज्यों-ज्यों वात्सल्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों स्वयं को आनंद आता जाता है। साधर्मी साधक प्रेम वात्सल्य की सरिता में स्वयं अवगाहन करता है स्वयं भी वात्सल्य में भीगा रहता है, स्वयं का रोम-रोम पुलकित रहता है। ध्यान रखना क्रोध के आवेश में आनंद नहीं आता, मान में, मायाचारी में, लोभ आदि की प्रवृत्ति में आनंद नहीं आता, अन्य संसार के कार्य करने में आनंद नहीं आता किन्तु प्रेम की सरिता बहाकर के देखो बहुत आनंद आता है। एक माँ को अपने बेटे को वात्सल्य देते हुये, गाय को अपने बछड़े को प्यार करते हुये बहुत आनंद आता है। ऐसे ही एक साधर्मी दूसरे साधर्मी से ग्लानि नहीं करता उसके गुणों में अनुराग करता है। जहाँ ग्लानि है वहाँ वात्सल्य नहीं है, जहाँ वात्सल्य है वहाँ ग्लानि नहीं है।

महानुभाव ! वात्सल्य भाव आत्मा को आनंद से भरने वाला है, इसलिये तीर्थंकर प्रकृति के बंध में प्रमुख अंग माना है इस वत्सल. भावना को। आप सभी साधर्मियों के हृदय सुमेरुओं से बहुत बड़ी वात्सल्य की सरिता बह निकले और आपका हृदय वात्सल्य का सागर

बन जाये जिस सागर में आपकी आत्मा का पूरा कचरा धुल जाये। संसार के प्राणी आपके वात्सल्य के सागर में अवगाहन करके कर्म पंक से मुक्त हो सके ऐसे वात्सल्य की आवश्यकता है, वात्सल्य से ही प्रभावना होती है। हम और आप सभी संकल्प ले लें कि हम बिना शर्त के वात्सल्य लुटायेंगे। शरीर से प्रेम करने का नहीं आत्मा से प्रेम करने का नाम वात्सल्य है। शरीर से प्रेम करने का नाम मोह, राग, रति आदि हो सकता है किन्तु हम आत्मा के गुणों से अनुराग करें अपनी आत्मा का कल्याण करें और दूसरों के कल्याण की भावना भायें। आत्म कल्याण का यही श्रेयो मार्ग है। हम और आप इसी मार्ग के पथिक बनें। ऐसी भावना भाता हुआ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय।''

प्रवचन-वत्सलत्व भावना

(अर्थ सहित श्लोक)

वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।

सर्वार्थसिद्धि

जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है।

यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्राकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते। यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेहः इति।

(राजवार्तिक-आ. अकलंकदेव)

जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकों में स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है।

तेसु अणुरागो आकंखा ममेदंभावो पवयणवच्छलदा णाम।

धवला जी, पु. 8

उक्त प्रवचनों अर्थात् सिद्धान्त या बारह अंगों में अथवा उनमें होने वाले देशव्रती महाव्रती व असंयतसम्यग्दृष्टियों में जो अनुराग, आकांक्षा अथवा ममेद बुद्धि होती है उसका नाम प्रवचनवत्सलता है।

तपोऽधिकमुनीन्द्राणां पारगाणां श्रुताम्बुधेः।
धत्ते प्रवचनस्यासौ वात्सल्यं विनयादिभिः॥९६॥

श्री पार्श्वनाथ चरित्रम्

शास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी तपस्वी मुनियों की विनय आदि के द्वारा प्रवचन वात्सल्य को धारण किया जाता है।

धेनोरिव निजवत्से सौत्सुक्यधियः सधर्मणि स्नेहः।
प्रवचनवत्सलता स्यात्सस्नेहः प्रवचने यस्मात्॥३४/१४८

-हरिवंशपुराण

जिस प्रकार गाय का बछड़े में स्नेह होता है उसी प्रकार उत्सुकता से युक्त बुद्धि वाले मनुष्य का सहधर्मी भाई में जो स्नेह है उसे प्रवचनवात्सल्य कहते हैं क्योंकि सहधर्मी से जो स्नेह है वह प्रवचन से ही स्नेह है।

वत्से धेनोरिव स्नेहो यः सधर्मण्यकृत्रिमः।
तद्वात्सल्यं प्रशंसन्ति प्रशंसा पारमाश्रिताः॥६३/३३०॥

उत्तर पुराण

बछड़े में गाय के समान सहधर्मी पुरुष में जो स्वाभाविक प्रेम है, उसे प्रशंसा के पारगामी पुरुष वात्सल्य भावना कहते हैं।

सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वं।

–भावपाहुड टीका

सहधर्मी भाईयों में स्नेह करना प्रवचन–वत्सलत्व भावना है।

वात्सल्य भावना नित्यं, साधर्मीष्वपि भावयेत्।
गोवत्सवदनुरागस्तां, तीर्थंकरस्य कारणम्॥

साधर्मियों में गो–वत्स के समान अनुराग वात्सल्य भावना है, उसको नित्य ही भाना चाहिये, जो तीर्थंकर प्रकृति की कारण है।

उपसंहार

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध में संबंधित कारणों की हम चर्चा कर रहे थे। चर्चा भी इसलिये जिससे कि वह हमारी चर्या में आ सके। चर्या भी इसलिये बनाना है जिससे तीर्थंकर प्रकृति के बंध में हम भी समर्थ हो सकें।

तीर्थंकर प्रकृति क्या है ? एक ऐसी पुण्य प्रकृति जिसे प्राप्त कर लेने पर एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति की प्राप्ति होती है जिसके माध्यम से वह लोकातिशायी कार्य करने में समर्थ होता है। हम इस बात को छोटे से दृष्टांत के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं। एक बहुत बड़ा जंगल था, उसी जंगल के समीप में बहुत बड़ा पहाड़ था, उस पहाड़ के उस ओर एक नदी बहती थी। ग्रीष्म काल का समय था, जंगल बाँस, बबूल, नीम, पीपल, आम, अमरूद आदि अनेक वृक्षों से समाकीर्ण था। किन्तु ग्रीष्मकाल में उसके पत्ते भी सूख गये संयोगवशात् उस ग्रीष्मकाल की तपन और हवा की तीव्रता ने जो आँधी का चक्रवाती रूप ले लिया उसके माध्यम से बाँस वृक्षों की आपस में रगड़ हुयी, उस घर्षण से चिंगारी निकली और सूखे पत्तों पर गिरी। चिंगारी से पूरे जंगल में आग लग गयी।

उस जंगल में बहुत से तिर्यंच भी थे, मनुष्य भी थे किन्तु जो असमर्थ थे वो तो उस आग में जल रहे हैं, कोई चल नहीं पा रहा है, कोई देख नहीं पा रहा है, कोई भूखा है, कोई प्यासा है, कोई घायल हो गया, कोई अपनी जान बचाने के लिये पेड़ पर चढ गया, कोई कहीं छिप गया। एक व्यक्ति इस दृश्य को देखकर के अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसका हृदय क्षुब्ध हो जाता है। वह अपने प्राण ाों की परवाह किये बिना उस जंगल में पागल सा दौड़ता है, किसी व्यक्ति को अपने कंधे पर बैठाकर पहाड़ की ओर ले जा रहा है, किसी का हाथ पकड़ के ले जा रहा है, किसी को गोदी में ले जा

रहा है, किसी को पानी पिला रहा है, किसी को फल खिला रहा है, इस प्रकार से जंगल में जितने भी पशु-पक्षी, जानवर, मनुष्य तड़प रहे थे उन सबके पास वह जा रहा है, वह स्वयं भूखा है किन्तु स्वयं की कोई परवाह नहीं, सबको बचाने की चेष्टा कर रहा है।

वह उन्हें उस जंगल की आग में से निकालकर पहाड़ की चोटी तक ले गया, सबको साहस सांत्वना देता है और सबको नाव से नदी पार कराने के लिये उद्यत होता है। उनमें से कुछ लोग रास्ते से लौटने लगे, कुछ लोग भटकने लगे किन्तु जो लोग साथ में चले गये पर्वत को पार करके नदी के समीप पहुँचे जहाँ उन्हें शीतल नीर व समीर की अनुभूति होने लगी जिससे शरीर की तपन दूर होने लगी। उस पुरुष ने उस नाव को स्वयं खेना प्रारंभ किया, नाव को खेते-खेते उस किनारे तक पहुँच गया। उसके देखते-देखते ही कुछ लोग नदी में तैरते-तैरते पार हो गये, कोई व्यक्ति किसी अन्य प्रकार से पार हो रहे हैं, यह व्यक्ति भी चाहता तो बहुत पहले ही पार हो जाता किन्तु इसने सभी व्यक्तियों को बचाने में अपना श्रम लगाया, और नि:स्वार्थ भावना से सभी को बचाने में लगा रहा वह सभी को एक साथ नदी के दूसरे किनारे तक ले जाता है। कहता है यहाँ कभी भी आग नहीं लगेगी, यहाँ कभी भूख-प्यास नहीं लगती है। कभी कोई रोग-शोक नहीं होता इस स्थान पर आप सुरक्षित आ गये।

जिस प्रकार का कार्य, सुकृत उस पुरुष ने किया उसी प्रकार का सुकृत कार्य करते हैं तीर्थंकर महापुरुष। पूर्वभव में अथवा जिस भव में तीर्थंकर प्रकृति को बाँधने का उपक्रम करते हैं सोलहकारण भावनाओं को भाते हैं। एक तो शरीर से कार्य करना होता है, एक वचनों से कार्य करना होता है। यह उपरोक्त उदाहरण शरीर से कार्य करने का दिया। वचनों से कार्य करने का उदाहरण भी हो सकता है जैसे कोई डायरेक्टर है वह पचासों कम्पनियों को निर्देश दे रहा है तुम ऐसा करो, तुम वैसा करो।

एक व्यक्ति मन के माध्यम से भावना भा रहा है कि मैं संसार के प्राणियों का कल्याण कैसे करूँ, इस संसार रूपी गहन वन में सभी लोग कषायों की अग्नि में जल रहे हैं, मिथ्यात्व के गड्ढे में गिर पड़ रहे हैं, कोई रोगी हैं रुदन कर रहे हैं, तो कुछ जन्म-जरा-मृत्यु जैसे घनघोर दु:ख से परेशान हो रहे हैं किन्तु यह पुरुष स्वयं के आत्मकल्याण की परवाह किये बिना, स्वयं के भौतिक सुखों की चिन्ता किये बिना, स्वयं उसके दु:खों को दूर करने में जुट जाता है और अपनी भावनाओं की एक ऐसी नौका बनाता है जिसमें सबको बिठाता है और जिसके माध्यम से असंख्यात जीवों का कल्याण होता है। उसके एक-एक महोत्सव के माध्यम से असंख्यात प्राणियों को आत्म कल्याण की प्रेरणा प्राप्त होती है, साथ ही न जाने कितने जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

महानुभाव ! तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिये ही ये सोलह कारण भावनायें हैं।

'दरश-विशुद्धि' धरे जो कोई, ताको आवागमन न होई।

दरश विशुद्धि का आशय संक्षेप में समझे दृष्टि की निर्मलता। दृष्टि की निर्मलता आती है प्रक्षालन करने पर, वह प्रक्षालन किससे करें ? किस पानी से धोएँ क्योंकि हर पानी से आँख का मल धुलता नहीं है उसके लिये करुणा का जल चाहिये, जैसे किसी दीवार पर कालिमा लगी हो उसे किसी कैमिकल या डीजल, मिट्टी का तेल से साफ करें तभी साफ होता है, ऐसे ही सम्यक्त्व को प्राप्त तो कर लिया किन्तु फिर भी दृष्टि से मलिनता नहीं गयी केवल अपने कल्याण की ही भावना रही, अन्य किसी के कल्याण की भावना नहीं आयी है। वह मल है, उस मल को जो करुणा जल से धो लेता है तो उसके जीवन में दर्शन विशुद्धि भावना होती है। जब वह भावना भाता है तब वह सेवा करते-करते इतना विनम्र हो जाता है, कहते हैं सेवा से मेवा मिलती है।

'विनय' महाधारे जो प्राणी, शिव वनिता की सखी बखानी।

विनय सम्पन्नता भावना मुक्ति रमा की सहेली है जो विनम्र हो जाता है फिर उसे कुछ चाह नहीं रहती, अपने व्रतों का निर्दोष पालन करता है। जिसे सांसारिक भौतिक पदार्थों की चाह होती है वह व्रतों में दोष लगाता है। तो विनयी अपने व्रतों का निर्दोष पालन करता है तथा अपने शील आदि धर्म का पालन करता है। इसके उपरांत वह निरंतर ज्ञान की धारा में अवगाहन करता है क्योंकि संसार में बाहर निकलेगा तो तपेगा और ज्ञान की धारा में डूबा रहेगा तो तपेगा नहीं।

आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने कहा, प्रतिक्षणलब्धता प्रत्येक क्षण उपलब्ध करना अर्थात् भूत और भविष्य के विचार व विकल्पों से रहित होकर के भूत की बातों को याद नहीं करना भविष्य के मनसूबों को भूलकर वर्तमान के क्षणों का सम्यक् उपयोग करना यह है प्रतिक्षण लब्धता अथवा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग। संवेग भावना का आशय है समीचीन वेग के साथ वाहन को चलाना, कौन से वाहन को चलाना ? अपने आत्मा के वाहन को चलाना, जिस आत्मा के वाहन में बहुत सारे रत्न भरे पड़े हैं, बहुत सारी निधि रखी हुयी हैं किंतु उस समय अपने उपयोग को उसमें लगाये हुये है। अनावश्यक दिशाओं में दृष्टि का त्याग करता है, इधर-उधर नहीं देखता अन्यथा दुर्घटना हो सकती है।

पश्चात् वह त्याग करता है। क्या त्याग करता है? क्या जो उसके पास धन-वैभव है उसका त्याग ? नहीं, ये तो कोई त्याग नहीं सबसे बड़ी बात यह है कि जो उसके पास साधन सामग्री है उसे वह उन्हें देता है जिन्हें उसकी आवश्यकता है। आहार, औषधि, शास्त्र, वस. तिका, उपकरणादि दान देता है जिससे उसकी वस्तु का सही सदुपयोग हो जाये। वह भी अपने समय का सदुपयोग करता है तन-मन का उपयोग करता है इतना ही नहीं वह अपनी इच्छाओं को रोकता है, मैं तो बिना खाये रह जाऊँगा मेरे पास जो भोजन है वह दूसरों के

काम आ जायेगा। अपने मन पर नियंत्रण करना यह उत्तम तप भावना भाता है, फिर वह साधु समाधि अर्थात् जो साधु पुरुष समाधि को प्राप्त करते हैं उस समाधि की भावना भाता है।

समाधि का आशय है अपनी आत्मा में निमग्न हो जाना अथवा समाधिमरण का आशय ऐसा लेना चाहिये जैसे किसी व्यक्ति की गाड़ी में रत्नों से भरी पोटली थी अचानक चोर-डाकू आ गये अब वह व्यक्ति क्या करे, कैसे अपनी व अपने रत्नों की रक्षा करे? न तो उसकी गाड़ी बची क्योंकि वह टूट गयी है, ऐसे समय में अपनी रत्नों की पोटली निकालकर के भाग जाना।

समाधि का आशय है बोधि के संस्कारों को परभव में ले जाना। यदि शरीर रूपी पर्णकुटी जर्जर हो जाती है, वह टूटने को होती है तो इस पर्णकुटी में विद्यमान जितनी भी बहुमूल्य वस्तुयें हैं, उस आत्मा की सभी गुण निधि की सुरक्षा करता है इस प्रकार से वह समाधि भावना भाता है। इतना ही नहीं जिन-जिन के पास रत्नों की पोटलियाँ हैं वह उनकी भी सहायता करता है साधर्मियों की सहायता करना यह कहलाती है वैयावृत्ति भावना। उनकी प्रतिकूलताओं को दूर करना।

जो दूसरों की बाधाओं को दूर करता है उसके मार्ग में बाधायें नहीं आती। किन्तु संसारी प्राणी की कुसंस्कार वश आदत हो गयी है जो जिस मार्ग में आगे बढ़ रहा है तो सोचता है मुझसे आगे कोई न निकल जाये, धक्का देकर गिराना चाहेगा किन्तु वैयावृत्ति करने का आशय है जो गिरे पड़े हैं उन्हें उठाना और संभालना उनकी सेवा सुश्रुषा करना, उन्हें संयम मार्ग पर बढ़ा देना।

इसके उपरांत वह चला जा रहा है, कहाँ जा रहा है, उसका क्या लक्ष्य है, क्या उद्देश्य है? एक छाप उसने अपने मन में बसा ली कि उस अर्हन्त अवस्था को मुझे प्राप्त करना है। चार घातिया कर्मों को नष्ट करना है, ये ही मेरे आदर्श हैं इनमें जो विशेषतायें हैं वह

मुझे प्राप्त करनी है मुझे यहीं तक पहुँचना है। उनके गुणों में अनु. राग करते-करते अपनी आत्मा का अन्वेषण करना यह अर्हत् भक्ति भावना है। वह देखता है अर्हन्त में कौन-कौन से गुण हैं। अरे! वे तो आचरण के देवता हैं, इसके चरणों की भक्ति करने वाला व्यक्ति विषय कषायों से मुक्त हो जाता है।

इस पृथ्वी पर जो दूसरे आचरण के देवता हैं वे हैं आचार्य परमेष्ठी जो कि देवों के द्वारा पूज्य हैं, वसुधा के आभूषण हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी के चरणों में जाता है। क्यों? क्योंकि उन आचार्य परमेष्ठी के चरणों में पहुँचने से आचरण में निर्मलता आती है। वे आदर्श की तरह हैं जैसे आदर्श दर्पण में देखकर चेहरे पर लगे दाग छुड़ा लिये जाते हैं ऐसे ही आचार्य परमेष्ठी के पास पहुँचकर अपने व्रतों के दोष अतीचार आदि का प्रक्षालन करता है। आचरण स्वयमेव निर्मल होने लगता है।

पुनः और आगे बढ़ता है तीर्थंकर प्रकृति को बाँधने की प्रक्रिया अभी पूर्ण नहीं हुयी सामने देखता है मेरे आदर्श में जो चीज है उनमें से एक चीज तो इनके पास भी है। उपाध्याय परमेष्ठी, ये भी ज्ञानमूर्ति हैं मेरे पास जितना भी ज्ञान है मैं उसका उपयोग करूँगा इनकी सेवा भक्ति से और ज्ञान मिलेगा इनके पास तो एक नंदा दीपक है संसार के और सभी दीपक तो बुझ जाते हैं किन्तु ज्ञान का दीपक एक बार चेतना में जल जाता है तो कभी बुझता नहीं है। उपाध्याय परमेष्ठी अर्थात् जो अध्ययन के समीप हैं उनकी भक्ति, पूजा स्तुति करना।

इसके आगे बढ़ता है। साधु पुरुष जो साधना में संलग्न हैं उनको देखकर अपनी आत्मा में लीन होने का प्रयास करता है, साधुभक्ति, सद्शास्त्रों की भक्ति, प्रवचनभक्ति रूपी भावना भाता है कि मैं किस प्रकार से उनके गुणों को प्राप्त करूँ ऐसी आत्मलीनता मेरे अंदर आये मैं भी संसार सागर से पार करने के लिये घाट बनूँ।

इसके बाद आगे बढ़ता है पुनः आवश्यकापरिहाणि भावना। वह आवश्यक कार्यों को करता है क्योंकि अनादिकाल से आज तक हमारा समय अनावश्यक कार्यों में ही लगा है, अब मैं अनावश्यक कार्यों को छोड़कर आवश्यक कार्यों को करूँगा। उनसे अपने मन को निर्मल बनाऊँगा, स्थिर करूँगा वह और आगे बढ़ता है। मार्ग प्रभावना भावना अर्थात् अब उसे लगता है मैं जिनशासन की प्रभावना करूँगा, मैं अपनी आत्मा को प्रभावित करके अर्थात् पहले मैं धर्म के अमृत का स्वाद लूँगा फिर सबको पिलाऊँगा। धर्म के अमृत को पीने का नाम है आनंद और धर्म के अमृत को पीने की भावना दूसरों में पैदा करना यह है प्रभावना। जब मेरी भावना प्रकृष्ट होगी तब दूसरों की भावना भी प्रकृष्ट हो सकती है।

यह सब कार्य करने के लिये आवश्यक है प्रवचन वत्सलत्व/ वात्सल्य भावना। वत्स जैसा भाव यानि पुत्रवत् जो स्नेह होता है वैसा ही साधर्मी के प्रति हो, उच्चकोटि का वात्सल्य हो क्योंकि राग में तो संसार दिखाई देता है वात्सल्य में संसार दिखाई नहीं देता मोक्षमार्ग व आत्महित दिखाई देता है, दूसरे की आत्मा के गुण दिखायी देते हैं। जब वात्सल्य से सराबोर होता है ऐसा लगता है अमृत की वर्षा हो रही है और जो उस वर्षा में अवगाहन करता है उसे तो आनंद आता ही आता है किन्तु अमृत की वर्षा में स्वयं अमृत को ग्रहण करने की भी भावना होती है, सत्य बात तो यही है वात्सल्य भाव ही एक ऐसा भाव है जिसके माध्यम से दूसरों को भी मोक्षमार्ग में संलग्न किया जा सकता है।

यह सोलहकारण भावनायें हैं जिनके माध्यम से नियम से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता ही होता है। ये नींव से लेकर के ध्वजा कलश और शिखर तक की भावनायें हैं जिनके माध्यम से तीर्थंकर प्रकृति रूप महल की संप्राप्ति होती है और तीर्थंकर के परम अभ्युदय की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर महापुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करने

के साथ-साथ नियम से अनेक भव्य जीवों का कल्याण करने वाले होते हैं और धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हैं। जहाँ-जहाँ धर्मचक्र का प्रवर्तन होता है उसके निमित्त से कई प्राणी तो अपने मिथ्यात्व के मल को धोकर के सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं तो कोई महाव्रतों को प्राप्त करते हैं। जो कोई भी समवशरण में 12 सभा में पहुँच जाता है वह मिथ्यादृष्टि नहीं रह पाता और जो मिथ्यादृष्टि होता है वह वहाँ पहुँच नहीं पाता लौट जाता है, वहाँ का ऐसा प्रभाव है। तीर्थंकर के सामने पहुँचकर सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की संप्राप्ति होती है।

आप और हम सभी इसी प्रकार का प्रयास करें, तीर्थंकर प्रकृति का बंध हम भी कर सकते हैं, यह असंभव नहीं है। इस मार्ग पर चलेंगे तो बन जायेंगे। केवल अपने स्वार्थ की भावना रखेंगे तो अपना कल्याण तो कर लेंगे पर तीर्थंकर नहीं बन पायेंगे क्योंकि तीर्थंकर बनने की भावना तीर्थंकर बनने से नहीं उस प्रकृति रूप भावना भाने से अपने आप बँध जाती है। आप भी उस प्रकृति को प्राप्त करें। प्रकृति के लिये नहीं अपितु यह सोचें कि मैं दूसरों के कल्याण में सहयोगी निमित्त बन सकूँ। ऐसी भावना आप भायें, मैं भी भाता हूँ और इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।

''श्री अजितनाथ भगवान् की जय''

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य

1. प्राकृत वाणी भाग-1, 2, 3
2. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
3. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
4. अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
5. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
6. जदि-किदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
7. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
8. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
9. तच्चसारो (तत्त्व सार)
10. धम्म-सुत्तं (धर्म सूत्र)
11. रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
12. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13. अप्पणिब्भर भारदो (आत्मनिर्भर भारत)
14. विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्या वसु श्रावकाचार)
15. अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
16. अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
17. णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
18. मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
19. मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
20. विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
21. विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
22. समवसरण सोहा (समवशरण शोभा)
23. वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
24. अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
25. कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
26. को विवेगी (विवेकी कौन)
27. पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
28. तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
29. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
30. धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)
31. कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
32. खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33. सिरि सीयलणाह चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
34. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
35. समणायारो (श्रमणाचार)

भावार्थ

1. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
2. णिग्गंथ-थुदि (निर्ग्रंथ स्तुति)
3. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
4. रट्ठसंति-महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
5. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
6. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)

टीका ग्रंथ

1. प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)
2. वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3. नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)

इंग्लिश साहित्य

Inspirational Tales Part- 1 & 2

वाचना साहित्य

1. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)
2. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
4. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
4. उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)
5. उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग 1-15
15. चूको मत
16. जय बजरंगबली
17. जीवन का सहारा
18. ठहरो! ऐसे चलो
19. तैयारी जीत की
20. दशामृत
21. धर्म की महिमा
22. ना मिटना बुरा है न पिटना
23. नारी का धवल पक्ष
24. शायद यही सच है
25. श्रुत निर्झरी
26. सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
27. सीप का मोती (महावीर जयंती)
28. स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. अच्छी बातें
3. आज का निर्णय
4. आ जाओ प्रकृति की गोद में
5. आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान
6. आहारदान
7. एक हजार आठ
8. कलम पट्टी बुद्धिका
9. गागर में सागर
10. गुरु कृपा
11. गुरुवर तेरा साथ
12. जिन सिद्धांत महोदधि
13. डॉक्टरों से मुक्ति
14. दान के अचिन्त्य प्रभाव
15. धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)
16. धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17. निज अवलोकन
18. वसु विचार
19. वसुनन्दी उवाच
20. मीठे प्रवचन (भाग 1-6)
21. रोहिणी व्रत कथा
22. स्वप्न विचार
23. सद्गुरु की सीख
24. सफलता के सूत्र
25. सर्वोदयी नैतिक धर्म
26. संस्कारादित्य
27. हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1. अक्षरातीत
2. कल्याणी
3. चैन की जिंदगी
4. ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5. मुक्ति दूत के मुक्तक
6. हाइकू
7. हीरों का खजाना

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. चौसठऋद्धि विधान
4. णमोकार महार्चना
5. दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)
6. यागमंडल विधान
7. समवशरण महार्चना
8. श्री नंदीश्वर विधान
9. श्री सम्मेदशिखर विधान
10. श्री अजितनाथ विधान
11. श्री संभवनाथ विधान
12. श्री पद्मप्रभ विधान
13. श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)
14. श्री चंद्रप्रभ विधान
15. श्री पुष्पदंत विधान
16. श्री शांतिनाथ विधान
17. श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान
18. श्री नेमिनाथ विधान
19. श्री महावीर विधान
20. श्री जम्बूस्वामी विधान
21. श्री भक्तामर विधान
22. श्री सर्वतोभद्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य जी)
3. आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)
4. कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)
6. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7. चार श्रावकाचार संग्रह
8. जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9. जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)
10. जिन सहस्रनाम स्त्रोत
11. तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)
12. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13. तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)
14. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15. तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)
16. तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17. धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
18. धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)
20. नीतिसार समुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदी स्वामी जी)
21. पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)
22. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23 पंचरत्न
24. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी जी)
25. मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)
26. भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी जी स्वामी)
27. भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)
28. मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्ति स्वामी जी)
29. योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबालचंद्र जी)
30. योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31. रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)
32. वसुऋद्धि
    - रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)
    - पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)
    - लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)
    - अर्हत प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)
    - स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
    - इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
    - वैराग्यमणि माला (आ. श्री विशाल कीर्ति जी)
    - ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33. सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगति स्वामी जी)
34. सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35. समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
36. समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37. सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय जी)

प्रथमानुयोग साहित्य

1. अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)
2. आराधना कथा कोष (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3. करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)
4. कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)
6. चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7. चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)
8. चेलना चारित्र
9. चंद्रप्रभ चरित्र
10. चौबीसी पुराण
11. जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
12. त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
14. धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15. धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
16. नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17. नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)
18. प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19. पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)
20. पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21. पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)
22. पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23. भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)
24. भद्रबाहु चरित्र
25. मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
26. महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27. महापुराण (भाग 1-2)
28. महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29. मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)
30. यशोधर चरित्र
31. रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)
32. रोहिणी व्रत कथा
33. व्रत कथा संग्रह
34. वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35. विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)
36. वीर वर्धमान चरित्र
37. श्रेणिक चरित्र
38. श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39. श्री जम्बूस्वामी जी चरित्र (श्री वीर कवि)
40. शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41. सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)
42. सम्यक्त्व कौमुदी
43. सती मनोरमा
44. सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45. सुरसुंदरी चरित्र
46. सुलोचना चरित्र
47. सुकुमाल चरित्र
48. सुशीला उपन्यास
49. सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बैरया)
50. सुभौम चरित्र
51. हनुमान चरित्र
52. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण
   - मृत्युंजय (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्त्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्त्रानाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   - भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल))
   - शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   - सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)
5. कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)
6. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला) (पुं. प्रवर दौलतराम जी)
7. दिव्य लक्ष्य (संकलन-हिंदी पाठ, स्तुति आदि)
8. धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
10. भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11. विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13. संसार का अंत
14. स्वास्थ्य बोधामृत

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1. अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
2. पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)
3. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
4. दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्वनंदनी, वर्चस्वनंदनी)
5. स्मृति पटल से भाग 1-2 (आ. श्री वर्धस्वनंदनी)
6. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
7. गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)
8. परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
9. स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)
10. स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
11. हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)
12. वसु सुबंध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद्र जी जैन)
13. समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')

अन्य साहित्य

1. हमारे आदर्श
2. जिनश्रमण भारती
3. निज अवलोकन
4. धम्म रसायणं
5. योगामृत भाग-1
6. योगामृत भाग-2
7. योगसार भाग-1
8. योगसार भाग-2
9. अध्यात्म तरंगिणी
10. आराधना सार
11. सार समुच्चय
12. भगवती आराधना
13. मरण कण्डिका
14. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
15. रयणसार
16. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (गुणरत्नाकर)
17. तत्त्वार्थ सूत्र
18. छहढाला (तत्त्वोपदेश)
19. उपासकाध्ययन भाग-1
20. उपासकाध्ययन भाग-2
21. धर्मबोध संस्कार भाग-1,2,3,4
22. धर्म संस्कार भाग-1
23. धर्म संस्कार भाग-2
24. भव्य प्रमोद
25. सदार्चन सुमन
26. तत्त्वार्थ सार
27. नीतिसार समुच्चय
28. सिन्दूर प्रकरण
29. आहार दान
30. दान के अचिन्त्य प्रभाव
31. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
32. तनाव से मुक्ति भाग-1, 2
33. कुरल काव्य
34. प्रकृति समुत्कीर्तन
35. पंचरत्न
36. भावत्रय फलप्रदर्शी
37. श्री महावीर भक्तामर स्तोत्र
38. कलम-पट्टी बुद्धिका
39. पहला सुख निरोगी काया
40. डाक्टरों से मुक्ति
41. आ जाओ प्रकृति की गोद में
42. स्वप्न विचार
43. तत्त्वभावना
44. जिनकल्पि सूत्रम्
45. तत्त्वज्ञान तरंगिणी
46. आधुनिक समस्याऐं- प्रमाणिक समाधान
47. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
48. सुख का सागर
49. दिव्य लक्ष्य
50. वसुऋद्धि
51. विद्यानंद उवाच
52. संस्कारादित्य

53. सद्गुरु की सीख
54. Inspirational Tales-1
55. Inspirational Tales-2
56. जिनसिद्धांत महोदधि
57. तत्त्व विचारो सारो
58. मूलाचार प्रदीप
59. धर्मरत्नाकर
60. अन्तर्यात्रा
61. चार श्रावकाचार
62. निर्ग्रंथ आराधना
63. निर्ग्रंथ भक्ति
64. कर्म प्रकृति
65. कर्म विपाक
66. विषापाहार स्तोत्र
67. समाधितंत्र
68. धर्म की महिमा
69. इक दिन माटी में मिल जाना (भजन)
70. सरस्वती उपासना

रचित प्राकृत साहित्य

1. णंदिणंद सुत्तं (नंदिनंद सूत्र)
2. रट्ठसंति महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
3. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
4. जदिकिदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
5. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
6. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रंथ स्तुति)
7. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
8. विज्जावसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)
9. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तव)
10. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
11. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
12. अणुवेक्खा सारो (अनुप्रेक्षा सार)
13. धम्मसुत्तं (धर्मसूत्र)
14. धम्म सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)

संस्कृत साहित्य

1. प्रमेया टीका (रत्नमाला)

विधान रचनाएँ

1. अरिष्ट निवारक विधान संग्रह (सहस्रनाम विधान)
2. पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री शांतिनाथ, भक्तामर,
4. सम्मेदशिखर विधान
5. दुःखों से मुक्ति
6. णमोकार महार्चना
7. समवशरण महार्चना
8. यागमंडल विधान
9. श्री संभवनाथ विधान

10. श्री चन्द्रप्रभ विधान
11. श्री शान्तिनाथ विधान
12. श्री कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
13. श्री महावीर विधान
14. श्री अजितनाथ विधान
15. श्री वासुपूज्य विधान
16. श्री भक्तामर विधान

प्रवचन साहित्य

1. मीठे प्रवचन भाग-1
2. मीठे प्रवचन भाग-2
3. मीठे प्रवचन भाग-3
4. मीठे प्रवचन भाग-4
5. मीठे प्रवचन भाग-5
6. दशामृत
7. श्रुत निर्झरी
8. तैयारी जीत की
9. गुरुत्तं-भाग-1
10. गुरुत्तं-भाग-2
11. गुरुत्तं-भाग-3
12. गुरुत्तं-भाग-4
13. गुरुत्तं-भाग-5
14. गुरुत्तं-भाग-6
15. गुरुत्तं-भाग-7
16. गुरुत्तं-भाग-8
17. न मिटना बुरा है न पिटना
18. ठहरो, ऐसे चलो.....
19. जीवन का सहारा
20. सीप का मोती (महावीर जयंती)
21. चूको मत
22. खोज क्यों रोज-रोज
23. जय बजरंगबली
24. शायद यही सच है
25. सम्राट चंद्रगुप्त की शौर्य गाथा
26. नारी का धवल पक्ष
27. आईना मेरे देश का
28. उत्तम क्षमा
29. मान महा विष रूप
30. रंचक दगा बहुत दु:खदानी
31. लोभ पाप को बाप बखाना
32. सतवादी जग में सुखी
33. जिस बिना नहिं जिनराज सीजे
34. तप चाहें सुरराय
35. निज हाथ दीजे साथ लीजे
34. परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो
35. उत्तम ब्रह्मचर्य

वाचना

1. बोधिवृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
2. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
3. स्वात्मोपलब्धि (समाधितंत्र)

नैतिक साहित्य

1. सर्वोदयी नैतिक धम
2. गागर में सागर
3. वसुनंदी उवाच
4. गुरु कृपा
5. सफलता के सूत्र
6. आज का निर्णय
7. गुरुवर तेरा साथ
8. एक हजार आठ
9. वसु विचार
10. स्वाति की बूँद
11. खुशी के आँसू

स्फुट काव्य रचनाएँ

1. कल्याणी
2. हाइकू
3. क्षरातीत-अक्षर
4. मुक्तिदूत के मुक्तक
5. चैन की जिन्दगी
6. हीरों का खजाना
7. न मैं चुप हूँ न गाता हूँ

गुरुव्यक्तित्व की परछाई

1. वसु सुबंधं
   (महाकाव्य डा. उदयचंद जैन)
2. दृष्टि दृश्यों से पार
3. स्मृति पटल से
4. पग वंदन
5. आचार्य वसुनंदी प्रश्नोत्तरी
   -ऐलक श्री विज्ञान सागर जी
6. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी

संघ परिचय

1. अक्षर शिल्पी
2. परिचय के गवाक्ष में

नोटः-शास्त्रों में वर्णित विषय संबंधी जानकारी के लिए 'जिनागम परिचायिका' देखें।